# महान् भारतीय

# महान् भारतीय

प्रमुख राजनीतिज्ञों, शिक्षा-शास्त्रियों, समाज-सुधारकों,
दार्शनिकों तथा वैज्ञानिकों के संक्षिप्त जीवन-चरित्र

लेखिका

ब्रह्मवती नारंग

विद्यालंकृता, साहित्यरत्न

कन्या गुरुकुल, देहरादून

१९५३

आत्माराम एण्ड संस

पुस्तक-प्रकाशक तथा विक्रेता

काश्मीरी गेट

दिल्ली ६

प्रकाशक
रामलाल पुरी
आत्माराम एण्ड संस
काश्मीरी गेट, दिल्ली-६

प्रथम संस्करण, १९४९
द्वितीय संस्करण, १९५२
तृतीय संस्करण, १९५३

मुद्रक
अमरजीतसिंह बलथा
सागर प्रेस
काश्मीरी गेट, दिल्ली ६

## प्रकाश-स्तम्भ

स्वतन्त्र भारत में उन विभूतियों के जीवन-स्मरण का महत्त्व अत्यन्त आवश्यक है, जिन्होंने अपनी अपूर्व प्रतिभा एवं कार्य-कुशलता द्वारा देश के राजनीति, समाज-सुधार, शिक्षा, विज्ञान एवं दर्शन आदि विभिन्न क्षेत्रों में जागृति उत्पन्न की है। प्रस्तुत पुस्तक में ऐसे ही तीस महापुरुषों का जीवन श्रीमती ब्रह्मवती विद्यालंकृता ने प्रस्तुत किया है।

लेखिका की शैली परिमार्जित, भाव सुदृढ़ एवं भाषा अत्यन्त हृदय-स्पर्शी है। देश की सुनहली आशा, बालकों के लिए यह पुस्तक एक प्रकाश-स्तम्भ का काम देगी। आशा है इसके द्वारा उन्हें अपने जीवन-निर्माण में असीम बल एवं बलिदान की भावना का सरस सहारा प्राप्त होगा। इस पुस्तक का हिन्दी-जगत् ने आदर किया है; इसका प्रबल प्रमाण यही है कि अब इसका तीसरा संस्करण हो रहा है।

—प्रकाशक

# विषय-सूची

## राजनीतिक



## शिक्षा-शास्त्री, समाज-सुधारक



## दर्शन तथा तत्त्ववेत्ता

## वैज्ञानिक तथा आविष्कारक

## राजनीतिक

१

लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक

२

महात्मा मोहनदास करमचन्द गाँधी

३

पंजाब-केसरी लाला लाजपतराय

४

नेताजी सुभाषचन्द्र बोस

५

सरदार वल्लभभाई पटेल

६

भारत-कोकिला सरोजिनी नायडू

७

राष्ट्रपति बा० राजेन्द्रप्रसाद

८

पण्डित जवाहरलाल नेहरू

९

मौलाना अबुल कलाम आज़ाद

१

# लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक

अपने जीवन के ५० वर्षों की अनवरत साधना, कठिन तपश्चर्या तथा महान् त्याग के द्वारा भारतीय स्वाधीनता के भव्य भवन की नींव डालने वाले लोकमान्य तिलक के नाम से कौन भारतीय परिचित नहीं है ? लोकमान्य जहाँ कर्मठ और साहसी सेनानी थे, वहाँ पूरे विचारक और राजनीतिज्ञ भी थे। उनके ओजस्वी व्यक्तित्व से क्षत्रित्व का विशेष तेज टपकता था, जो विद्या, बुद्धि एवं सात्विकता की आभा से और भी प्रदीप्त हो उठा था। उनके जीवन की विशेषता थी उनकी सतत कर्मण्यता। अपने सिद्धान्त पर वे हिमालय की भांति अटल रहे और अपने निर्दिष्ट लक्ष्य की प्राप्ति के लिए जीवन के अन्तिम क्षण तक प्रयत्नशील रहे। उनकी राजनीति का सार था—शठे शाठ्यम्—जैसे को तैसा। उन्होंने जीवन-पर्यन्त इस सिद्धान्त को निभाया। लोकमान्य अपनी संस्कृति, रीति-नीति तथा आचार के प्रति पूर्ण श्रद्धा रखते थे। जनता के लिए उनके हृदय में आदर और प्रेम था और कदाचित् यही उनकी लोकप्रियता का प्रमुख कारण था। जनता के प्रत्येक कार्य में, उत्सवों में, रीति-रिवाजों में वे समान रूप से भाग लेते रहे और साथ ही उसका पथ-प्रदर्शन करके उन्नति के राजमार्ग की ओर अग्रसर होते

रहे। भारतीय जनता के समक्ष सबसे प्रथम 'स्वराज्य' शब्द का अर्थ प्रतिपादित करने वाले आप ही थे।

लोकमान्य तिलक का जन्म २३ जुलाई, १८५६ को रत्नागिरी में हुआ। आपके पिता गंगाधर रामचन्द्र तिलक पूना जिले के स्कूलों के डिप्टी इन्सपैक्टर थे। लोकमान्य बाल्यावस्था से ही बड़े मेधावी तथा प्रखर बुद्धि के थे। ८ वर्ष की आयु में ही आपने भिन्न तक गणित, रूपावली, समास-चक्र तथा आधा अमरकोश कंठस्थ कर लिया था। दस वर्ष की अवस्था में आपने पूना के सिटी-स्कूल में प्रवेश किया। १८७२ में मैट्रिक की परीक्षा पास करके १८७६ में डेक्कन कालिज से बी० ए० की परीक्षा में उत्तीर्ण हुए। १८७९ में एल-एल-बी० की परीक्षा पास की। कालिज-जीवन से ही आपकी रुचि सार्वजनिक कार्यों की ओर हो गई थी। आपने निश्चय कर लिया था कि जीवन-भर सरकारी नौकरी न करके देश-सेवा का कार्य ही करता रहूँगा।

शिक्षा-समाप्ति के साथ ही लोकमान्य के सार्वजनिक कार्यों का आरम्भ हो जाता है। सर्वप्रथम आपका ध्यान शिक्षा-प्रसार की ओर गया। इसके परिणामस्वरूप आपने १ जनवरी, १८८० को न्यू इंग्लिश स्कूल की स्थापना की। अल्पकाल में ही उक्त स्कूल पर्याप्त उन्नति कर गया। २४ अक्तूबर, १८८४ को आपके सद्प्रयत्नों से दक्षिण-शिक्षा-समिति की स्थापना हुई और १८८५ में इसी समिति की ओर से फर्गुसन कालिज की नींव डाली गई। इसी प्रकार अपने अथक परिश्रम द्वारा लोकमान्य ने महाराष्ट्र में शैक्षणिक क्रान्ति उत्पन्न कर दी।

उस समय आपकी विद्वत्ता की छाप अनेक विद्वानों के मन पर अंकित हो चुकी थी। इन्हीं दिनों आपने ओरियण्टल सोसायटी के लिए ज्योतिष-शास्त्र के आधार पर एक निबन्ध लिखा, जिसकी देश-विदेशों में बड़ी चर्चा फैली। इस निबन्ध में वेदों की प्राचीनता सिद्ध की गई थी, जो बाद में पुस्तकाकार भी प्रकाशित हुआ। इस निबन्ध के

कारण मैक्समूलर आदि विदेशी विद्वानों के हृदय में भी आपके लिए श्रद्धा का भाव उत्पन्न हो गया था।

शिक्षा-सम्बन्धी कार्यों के साथ ही आपने जनता में नव चेतना एवं नव जागृति उत्पन्न करने के लिए दो साप्ताहिक पत्र भी निकाले। पहला 'केसरी' अंग्रेजी में, जिसका सम्पादन आपके मित्र आगरकर करते थे, दूसरा 'मरहटा', जिसका सम्पादन स्वयं लोकमान्य करते थे। सन् १८८१ में 'केसरी' और 'मरहटा' में कोल्हापुर रियासत के सम्बन्ध में कुछ आपत्तिजनक लेख प्रकाशित करने के अपराध में आगरकर और तिलक को चार-चार मास कारावास की सजा हुई। इस सजा से तिलक और आगरकर का नाम जनता में प्रसिद्ध हो गया और दोनों के प्रति लोगों में श्रद्धा-भाव बढ़ गया।

१८९३-९४ में आपने महाराष्ट्र में जागृति उत्पन्न करने के लिए दो नवीन उत्सवों की परिपाटी चलाई। पहला 'गणेश-उत्सव' और दूसरा 'शिवाजी-उत्सव'। ये दोनों उत्सव सार्वजनिक रूप से मनाये जाते थे। हजारों की संख्या में लोग इन उत्सवों पर एकत्र होते थे। और राजनीतिक विषयों पर वाद-विवाद एवं भाषण आदि होते थे। आज भी ये उत्सव महाराष्ट्र में उसी उत्साह के साथ मनाये जाते हैं।

सन् १८९५ में लोकमान्य को बम्बई प्रान्तीय लेजिस्लेटिव कौंसिल का सदस्य चुना गया। १८९६ में महाराष्ट्र में घोर अकाल पड़ा, आपने अकाल-पीड़ितों की भरसक सहायता की। १८९७ में 'मरहटा' में प्रकाशित कुछ आपत्तिजनक पत्रों को लेकर आप पर राजद्रोह का अभियोग चलाया गया, जिसके परिणामस्वरूप आपको १८ मास की कड़ी कैद की सजा दी गई। किन्तु अध्यापक मैक्समूलर, सर विलियम हण्टर तथा दादाभाई नौरोजी के प्रयत्नों से आप सजा की अवधि पूरी होने से ६ मास पूर्व ही छोड़ दिये गए।

सन् १८९८ से कांग्रेस में भी आपका प्रभाव बढ़ने लगा। आप एक उग्र विचारों के नेता थे, अतः कांग्रेस की नरम नीति आपको पसन्द

नहीं थी। आपने कांग्रेस में एक उग्र दल की स्थापना की और उसका नेतृत्व स्वयं करने लगे। १६०५ में बंग-भंग के कारण देश के राजनीतिक आन्दोलन में विशेष चेतना का संचार हुआ। तब आपके नेतृत्व में उग्र दल ने कांग्रेस पर अधिकार करने का प्रयत्न किया। १६०७ में सूरत में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ। जिसमें दोनों दलों में झगड़ा हो गया और आपका उग्र दल कांग्रेस से पृथक् हो गया।

सन् १६०८ में सरकार ने आप पर राजद्रोह का अभियोग लगाकर ६ वर्ष के निर्वासन एवं १०००) रु० जुर्माने की सज़ा दी। आप ६ वर्ष तक मांडले (बर्मा) जेल में रहे। वहाँ आपको अनेक यातनाएँ सहन करनी पड़ीं। जेल में ही आपने अपना प्रसिद्ध ग्रन्थ 'गीता-रहस्य' लिखा। 'गीता-रहस्य' में कर्मयोग की श्रेष्ठता को प्रमाणित किया गया है। अभी आप जेल में ही थे कि आपकी पत्नी का देहावसान हो गया। १६१४ में आप जेल से रिहा किये गए।

१६१४ में प्रथम महायुद्ध प्रारम्भ हो जाने से देश में अशान्ति की लहर दौड़ गई। इसी समय लोकमान्य ने देश में स्वराज्य का नारा बुलन्द किया। आपने समस्त देश का विस्तृत भ्रमण करके राष्ट्र की सोई हुई शक्ति को पुनः जागृत किया। उस समय राष्ट्र के कोने-कोने में तिलक की यह ललकार गूँज रही थी—'स्वराज्य मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है और मैं उसे लेकर ही रहूँगा।' उस समय कांग्रेस के नरम दल में गांधी जी का आधिपत्य था। गांधी जी महायुद्ध में ब्रिटिश सरकार को बिना किसी शर्त के सहायता देने के पक्ष में थे—तिलक ने इसका विरोध किया। उनका कहना था कि ब्रिटिश सरकार की नीयत का कोई भरोसा नहीं, अतः सरकार हमें जितने अधिकार देगी, उतनी ही उसकी सहायता की जाय। इस बात पर गांधी जी और लोकमान्य में मतभेद हो गया। किन्तु लोकमान्य अपने सिद्धान्त पर अटल रहे। महायुद्ध की समाप्ति पर उनकी बात की सत्यता गांधी जी को भी स्वीकार करनी पड़ी। वास्तव में तिलक एक दूरदर्शी राजनीतिज्ञ थे। परिस्थिति से

लाभ उठाना वे भली प्रकार जानते थे।

सन् १९१८ में दिल्ली में होने वाले कांग्रेस-अधिवेशन का आपको सभापति चुना गया, किन्तु इसी बीच आप इंगलैंड चले गए। १९१९ में अमृतसर-कांग्रेस में आप सम्मिलित हुए थे। वहाँ का आपका भाषण बड़ा तर्कपूर्ण एवं प्रभावशाली था। आपने सरकारी सुधारों की कटु आलोचना की। आप कांग्रेस को प्रजावादी-दल बनाकर शिक्षा, आन्दोलन एवं संगठन द्वारा स्वराज्य-प्राप्ति का स्वप्न देख रहे थे, किन्तु कुसमय ने आपका स्वप्न पूरा न होने दिया। सन् १९२० में आपने डेमोक्रेटिक स्वराज्य-पार्टी की स्थापना की, जिसका उद्देश्य मांटेग्यू-सुधार-योजना के सम्बन्ध में कार्य-शैली स्थिर करना था।

१९२० में एक मुकद्मे के सम्बन्ध में आप बम्बई गए, किन्तु वहाँ जाकर बीमार हो गए। आपकी बीमारी से समस्त देश में चिन्ता फैल गई। बड़े-बड़े योग्य डॉक्टरों की चिकित्सा से भी लाभ न हुआ और २१ जुलाई को रात्रि के साढ़े बारह बजे भारतीय स्वाधीनता-संग्राम का यह साहसी सेनानी सदैव के लिए सो गया। आपकी मृत्यु का दुःखद समाचार सुनकर क्या हिन्दू—क्या मुसलमान—समस्त देश-वासी व्यग्र हो उठे।

२

# महात्मा मोहनदास करमचन्द गांधी

बीसवीं शताब्दी में उत्पन्न उन विश्व-व्यापी शक्तियों में, जिन्होंने संसार के बहुत बड़े भाग की एकदम काया पलट दी, महात्मा गांधी का स्थान सबसे ऊँचा है। गांधी जी विश्व-प्रेम के अग्रदूत तथा सत्य और अहिंसा की प्रतिमूर्ति के रूप में भारत में प्रकट हुए। वास्तव में गांधी जी मानव-जाति के नैतिक विकास की चरम सीमा थे। उनकी धार्मिक महत्ता हिमालय के समान विशाल और उच्च थी। मानवता ने जो विकास और उन्नति महात्मा गांधी में पाई, वैसी पहले कहीं और कभी नहीं पाई थी। क्योंकि यह महात्मा एक साथ धर्म, राजनीति, समाज-नीति, अर्थशास्त्र तथा जीवन के अन्य सभी पहलुओं में विकास के उस बिंदु पर पहुँचा था, जिस पर अन्य कोई व्यक्ति नहीं पहुँच पाया। उसने संयम तथा त्याग का पालन इस रूप में किया, जो विश्व के इतिहास में सचमुच अश्रुतपूर्व तथा अभूतपूर्व है। हमारे लिए यह कम सौभाग्य और गौरव की बात नहीं है कि जिस भारत ने महात्मा बुद्ध को जन्म दिया, उसी ने पाँच हज़ार वर्षों बाद महात्मा गांधी जैसा नरदेव इस भूली-भटकी दुनिया के लिए पथ-प्रदर्शक पैदा किया। इस महा मानव ने
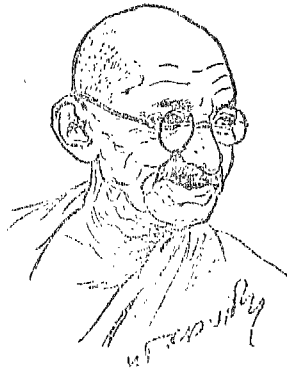
भौतिकवाद से उन्मत्त दुनियाँ के सामने आत्म-शक्ति और चरित्र-बल का उच्च आदर्श उपस्थित किया। हिंसा और बर्बरता में विश्वास रखने वालों को सत्य और अहिंसा का अद्भुत चमत्कार दिखाकर चकित कर दिया। विलासिता और ऐश्वर्य में रत दुनिया को सादगी और ब्रह्मचर्य के पथ का दिग्दर्शन कराया। अपने धर्म-बल तथा आत्म-बल द्वारा ब्रिटिश सत्ता के पंजे से अकिंच भारत को स्वतन्त्र कराया। यद्यपि गांधी जी भारतीय संस्कृति और सभ्यता के सच्चे और सर्वोत्कृष्ट प्रतिनिधि थे, तथापि उनमें विश्व-आत्मा की उच्चतम आशाओं और आकांक्षाओं का सार्थक प्रतिबिम्ब झलकता था। इसी से हम कह सकते हैं कि गांधी जी एकदेशीय नहीं, प्रत्युत अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्ति थे। उनके जीवन में सम्पूर्ण मानव-जाति के विकसित स्वरूप का प्रतिबिम्ब चित्रित हुआ।

मोहनदास करमचन्द गांधी का जन्म २ अक्तूबर, १८६९ को काठियावाड़ के पोरबंदर नामक स्थान में हुआ था। उनके पिता श्री कबा गांधी राजकोट राज्य के दीवान थे। उनकी माता पवित्रता एवं सादगी की मूर्ति थीं। वे समस्त धार्मिक रीतियों का प्रेम और श्रद्धापूर्वक पालन किया करती थीं। माता के पवित्र जीवन का बालक गांधी पर पूर्ण प्रभाव पड़ा। उनके बाल-जीवन की मुख्य विशेषता उनकी सत्य-निष्ठा थी।

उन्होंने मैट्रिक तक की शिक्षा स्वदेश में ही समाप्त की। गांधी जी कोई बहुत प्रतिभाशाली विद्यार्थी न थे। परन्तु वे जानते थे कि मुझे जीवन में क्या करना है। यद्यपि उनका परीक्षा-परिणाम बहुत उज्ज्वल नहीं हुआ करता था तथापि वे चरित्र और व्यावहारिक ज्ञान नामक उन दो गुणों का विकास कर रहे थे, जिनसे संसार में सच्ची सफलता प्राप्त होती है। वे प्रत्येक बात को बुद्धिपूर्वक तथा व्यावहारिक ढंग से सीखते थे। उनका विश्वास था कि सम्पूर्ण शिक्षा देशीय भाषाओं के माध्यम द्वारा होनी चाहिए, अंग्रेजी माध्यम द्वारा नहीं।

मैट्रिक पास करके गांधी जी कानून का अध्ययन करने विलायत गए। वे माता के सामने पवित्र प्रतिज्ञाएँ करके गए कि उस दूर देश में भी मैं सत्य न छोड़ूँगा और आपकी आज्ञाओं का पालन करूँगा। नवयुवक मोहन ने उन प्रतिज्ञाओं का धैर्यपूर्वक अक्षरशः पालन किया। यद्यपि उन्होंने विलायत में महाविद्यालय व विश्वविद्यालय में विशेष सम्मान प्राप्त किया था, तो भी उन्होंने उन गुणों को धारण करने में विशेष उन्नति की, जिनसे सच्चे जीवन का निर्माण होता है। वे बैरिस्टर बन गए और १२ जून, १८९१ को इंगलैंड से भारत में आने पर उन्हें ज्ञात हुआ कि चिरकाल पूर्व माताजी का देहान्त हो चुका है और मेरे भाई ने यह बात मुझसे छिपा रखी है। फिर गांधी जी ने वकालत का कार्य आरम्भ किया, परन्तु उसमें उन्हें विशेष सफलता न मिली।

१८९३ में गांधी जी को एक मुकदमे के सम्बन्ध में दक्षिणी अफ्रीका जाना पड़ा। वहाँ जाकर उन्होंने प्रवासी भारतीयों पर होने वाले अनाचारों को देखा तो उनका हृदय द्रवित हो उठा। स्वयं उन्हें भी नाना प्रकार के अपमान सहने पड़े। उनके हृदय में इन अपमानों का प्रतिकार करने की भावना प्रबल हो उठी। उन्होंने अपमानित भारतीयों का संगठन करके उनका नेतृत्व अपने हाथ में लिया। रस्किन एवं टाल्स्टाय के अनुभवों से उन्हें अहिंसात्मक प्रतिशोध की प्रेरणा मिली। वहाँ उन्होंने शान्तिपूर्वक सत्याग्रह-आन्दोलन प्रारम्भ कर दिया। फीनिक्स में सत्याग्रह-आश्रम खोला व 'इण्डियन ओपीनियन' पत्रिका प्रकाशित की। 'नेटाल भारतीय कांग्रेस' की स्थापना हुई। यहीं पर गांधी जी ने उन अनुभवों को प्राप्त किया, जिनके द्वारा जीवन में उन्होंने भारी सफलता प्राप्त की। दक्षिण अफ्रीका की सरकार को झुकना पड़ा और गांधी जी की विजय हुई।

दक्षिण अफ्रीका के विजयी गांधी जी स्वदेश लौट आए। यहाँ आकर उन्होंने देश की समग्र परिस्थितियों का सूक्ष्म अध्ययन किया।

महामान्य गोखले से भेंट करके उनके राजनीतिक अनुभवों का अध्ययन किया। साबरमती में 'सत्याग्रह-आश्रम' खोला और स्वदेशी के रचनात्मक कार्यों का सूत्रपात किया। अब गांधी जी भारतीय राजनीति के निकट सम्पर्क में आ चुके थे। अपने अहिंसा के प्रयोगों को उन्होंने यहाँ भी आरम्भ कर दिया। इसी बीच प्रथम महायुद्ध प्रारम्भ हो गया, अंग्रेजों की न्याय-प्रियता पर गांधी जी को पूर्ण विश्वास था। युद्ध में हर प्रकार से अंग्रेजों की सहायता करना ही उन्होंने देश के लिए श्रेयस्कर समझा। किन्तु युद्ध समाप्त होते ही अंग्रेजों की नीयत का उन्हें तुरन्त परिचय मिल गया। गांधी जी को अपनी आशाओं का विकृत रूप जलियाँवाला बाग में देखने को मिला। यह भारत द्वारा दी गई सहायता का प्रतिकार किया गया था। परिणामस्वरूप ब्रिटिश सरकार के प्रति गांधी जी का विश्वास कम होता गया।

अंग्रेजों द्वारा इस प्रकार अपनी आशाओं को कुचले जाते देखकर गांधी जी की प्रतिकार की भावना भड़क उठी। इसी बीच अंग्रेजों द्वारा टर्की के हिस्से-बखरे करने, उसे मित्रराष्ट्रों में बाँटने की योजनाओं से भारतीय मुसलमान भी अंग्रेजों से असन्तुष्ट हो गए। इस प्रकार हिन्दू और मुसलमान दोनों ही अंग्रेजों से प्रतिशोध के लिए व्यग्र हो उठे। गांधी जी ने उनका नेतृत्व किया और निम्नलिखित तीन बातों को सिद्ध करने के उद्देश्य से देश-भर में सत्याग्रह का आन्दोलन प्रारम्भ कर दिया। पहली, तुर्की के हिस्से-बखरे करने का विरोध, उसे खिलाफ़त-आन्दोलन का नाम दिया गया। दूसरी, पंजाब में की गई गलती का प्रतिकार, अपराधी कर्मचारियों को दण्ड देने की माँग। तीसरी, स्वराज्य की प्राप्ति। यह आन्दोलन पूर्णतया अहिंसा पर आश्रित था—इसे असहयोग-आन्दोलन का नाम दिया गया। यह आन्दोलन इण्डियन नेशनल कांग्रेस की स्वीकृति से १६२० में आरम्भ किया गया। विदेशी का बहिष्कार और स्वदेशी का प्रचार इस आन्दोलन के प्रधान अंग थे। असहयोग-कार्यक्रम के अनुसार

विद्यार्थियों ने स्कूल-कालिजों, वकीलों ने कचहरियों और मेम्बरों ने कौंसिलों का परित्याग कर दिया। देश-भर में इस राष्ट्रीय आन्दोलन की धूम मच गई। सरकार परेशान हो गई कि इस आन्दोलन को कैसे दबाया जाय? इसी बीच गांधी जी ने पूर्ण स्वराज्य की प्राप्ति के लिए एक सामूहिक सत्याग्रह-आन्दोलन करने का निश्चय किया और बारदोली को आन्दोलन का क्षेत्र चुना गया। किन्तु इसी बीच चौरा चौरी में कुछ हिंसात्मक घटनाएँ हो गईं। सत्याग्रहियों ने पुलिस कर्मचारियों को पीट डाला। देश के अन्य भागों से भी इसी प्रकार की घटनाओं की सूचना मिली। यह देखकर गांधी जी ने सत्याग्रह-आन्दोलन वापस ले लिया, सरकार ने उन पर अभियोग चलाया और ६ वर्ष की कैद हुई।

परन्तु बीमारी के कारण गांधी जी को दो वर्ष बाद ही छोड़ दिया गया। उस समय देश का वातावरण साम्प्रदायिक दंगों के कारण अत्यन्त विषाक्त हो रहा था। गांधी जी ने दंगों को रोकने के लिए २१ दिन का उपवास किया। गांधी जी के जीवन में इन उपवासों का अत्यन्त महत्त्व रहा है। अपने जीवन में उन्होंने अनेक ऐतिहासिक उपवास किये हैं और उनमें उन्हें सफलता भी मिली है।

सन् १९२९ तक महात्मा जी खादी-प्रचार एवं हरिजनोद्धार आदि अन्य रचनात्मक कार्यों में व्यस्त रहे। १९२९ में लाहौर कांग्रेस में पूर्ण स्वराज्य की प्राप्ति का प्रस्ताव पास होने से आन्दोलन का पुनः सूत्रपात हुआ। इस आन्दोलन की बागडोर गांधी जी ने सँभाली यह आन्दोलन नमक-सत्याग्रह के नाम से प्रसिद्ध है। साबरमती आश्रम से दाण्डी तक पैदल यात्रा करके गांधी जी ने वहाँ जाकर स्वयं नमक बनाकर नमक-कानून को भंग किया। यह दाण्डी-यात्रा एक प्रसिद्ध ऐतिहासिक घटना है। उस समय समस्त देश गांधी जी के पीछे था। जगह-जगह नमक बनाकर कानून तोड़ा गया। नवयुवकों से जेलें भर गईं। परन्तु अन्त में गांधी-इरविन समझौता हो गया और

सत्याग्रह बन्द हो गया।

सन् १९३१ में गांधी जी लन्दन में द्वितीय गोलमेज कॉन्फ्रेंस में सम्मिलित हुए। किन्तु उस कॉन्फ्रेंस से भी कोई लाभ न हुआ और अन्त में ब्रिटिश पार्लमेण्ट को अपनी समझ के अनुसार १९३५ का गवर्नमेंट ऑफ् इण्डिया एक्ट बनाना पड़ा। लन्दन से लौटने ही गांधी जी को पकड़ लिया गया। देश में पुनः अशान्ति एवं असहयोग की घटाएँ छा गईं।

जेल से छूटने के बाद गांधी जी कांग्रेस के सक्रिय नेतृत्व से अलग हो गए। फिर भी कांग्रेस के नेता कठिनाई के समय गांधी जी से सलाह लिया करते थे। उनकी अनुमति से ही कांग्रेस ने नये विधान के अनुसार धारा-सभाओं में जाकर मंत्रिमंडल बनाने का निश्चय किया था। इसी बीच दूसरा महायुद्ध प्रारम्भ हो गया। कांग्रेस ने ब्रिटिश सरकार की युद्ध-नीति का विवरण माँगा, किन्तु ब्रिटिश सरकार तो अपने साम्राज्य को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए ही तत्पर थी; अतः कांग्रेसी मंत्रिमंडलों ने अपने पदों से त्याग-पत्र दे दिए।

परन्तु ब्रिटिश सरकार जानती थी कि युद्ध जीतने के लिए भारत की सहायता प्राप्त करना आवश्यक है। इस उद्देश्य से उसने कांग्रेसी नेताओं से समझौते का प्रयत्न किया। इस सम्बन्ध में वैधानिक एवं राजनीतिक सुधारों का प्रस्ताव लेकर सर स्टैफर्ड क्रिप्स भारत आये और कांग्रेस के नेताओं से समझौते का प्रयत्न किया, किन्तु परिणाम कुछ न निकला।

एक बार पुनः गांधी जी के नेतृत्व में विशाल सत्याग्रह-आन्दोलन करने को देश तैयार हो गया। गांधी जी ने 'भारत-छोड़ो' का नारा बुलन्द किया। बम्बई-कांग्रेस में गांधी जी को सामूहिक रूप में सत्याग्रह आरम्भ करने का अधिकार दिया गया। परन्तु सत्याग्रह आरम्भ होने से पूर्व ही सरकार ने गांधी जी तथा अन्य प्रमुख नेताओं को पकड़कर जेल में ठूँस दिया।

इस अपमान का बदला लेने के लिए समस्त देश में विद्रोह की ज्वाला भड़क उठी। स्थान-स्थान पर भीषण आन्दोलन हुए। अगस्त '४२ का यह विद्रोह भारतीय स्वाधीनता के इतिहास में एक प्रसिद्ध घटना है। १६४३ के आरम्भ में गांधी जी ने आत्म-शुद्धि के लिए २१ दिन का प्रसिद्ध उपवास किया। देश में खलबली मच गई। गांधी जी का जीवन संकट में पड़ गया। परन्तु फिर भी सरकार ने उन्हें नहीं छोड़ा। नजरबन्दी के दिनों में ही उनकी पत्नी कस्तूरबा एवं उनके प्राइवेट सेक्रेटरी महादेव देसाई का देहान्त हो गया इससे गांधी जी को महान् शोक हुआ।

सन् १६४४ में लार्ड वेवल अपनी योजना लेकर भारत आये, तब शिमला-सम्मेलन हुआ और महात्मा गांधी ने अन्य नेताओं के साथ मिलकर राजनीतिक गुत्थियों को सुलझाने का प्रयत्न किया, किन्तु परिणाम कुछ न निकला। अन्त में केबिनेट-मिशन के आगमन से अन्त:कालीन सरकार की स्थापना हुई। देश स्वाधीन हुआ, किन्तु उस रूप में नहीं जिस रूप में गांधी जी चाहते थे। देश के वातावरण को ध्यान में रखते हुए गांधी जी को भी देश का विभाजन स्वीकार करना पड़ा।

इसके पश्चात् देश में साम्प्रदायिक उपद्रवों का तांडव नर्त्तन हुआ। पूर्वी बंगाल, बिहार तथा पंजाब में भीषण रक्तपात मचा। गांधी जी ने दंगों को रोकने तथा हिन्दू-मुसलमानों में परस्पर विश्वास उत्पन्न करने के लिए अपनी जान की बाजी लगा दी। नोआखाली में गाँव-गाँव की पैदल यात्रा करना उनके जीवन का महत्त्वपूर्ण पृष्ठ है। कलकत्ता में उनके उपवास ने जादू का-सा प्रभाव दिखाया और तुरन्त उपद्रव बन्द हो गए। दिल्ली में भी उन्होंने ही आकर शान्ति स्थापित की और लोगों की साम्प्रदायिक विचारधाराओं को बदलने के लिए उपवास किया। उन्हें अपने कार्य में महान् सफलता प्राप्त हुई।

३० जनवरी, १६४८ को सन्ध्या के पाँच बजे जब वे बिरला-भवन

से प्रार्थना-सभा में जा रहे थे, तो एक मराठा युवक ने पिस्तौल से उनकी हत्या कर दी। कौन जानता था कि इस महान् आत्मा का अन्त इस प्रकार होगा। समग्र देश शोक-सागर में डूब गया। उनकी मृत्यु का संवाद सुनकर क्या बालक और क्या युवा तथा वृद्ध—सभी रो पड़े। विदेशों से अनेक संवेदना के सन्देश आये। दिल्ली में ही राजघाट पर यमुना के किनारे दूसरे दिन उनकी अन्त्येष्टि की गई। तेरह दिन पश्चात् उनकी अस्थियाँ एवं भस्म त्रिवेणी तथा अन्य प्रमुख नदियों में प्रवाहित की गईं। गांधी-स्मारक कोष खोला गया और देश अपने राष्ट्रपिता का योग्य स्मारक बनाने का प्रयत्न कर रहा है।

मानवी सभ्यता के विकास में उनकी सबसे बड़ी देन यह है कि उन्होंने जीवन-भर इस बात का यत्न किया कि साधारण जनता उन आदर्शों को अपना ले, जिन्हें राम, कृष्ण, बुद्ध और ईसा सरीखे विरले ही व्यक्ति अपना सके हैं। श्रीमती एनी बेसेंट ने उनके सम्बन्ध में कहा था कि यदि सब मनुष्य गांधी जी के चरण-चिह्नों पर चलने लग पड़ें, तो परमेश्वर भी पृथ्वी पर चलना आरम्भ कर देगा। वास्तव में नवीन भारत के निर्माता, पवित्रात्मा, उद्योगशील, दृढ़-संकल्प, कपट-शून्य और मनुष्य-मात्र के हितैषी महात्मा गांधी वस्तुतः ऐसे ही महान् पुरुष थे।

३

# पंजाब-केसरी लाला लाजपतराय

पंजाब-केसरी लाला लाजपतराय का नाम भारतीय स्वाधीनता-संग्राम के इतिहास में चिरकाल तक अमर रहेगा। उनका स्वदेश-प्रेम गंगा-जल की भाँति विशुद्ध, देश-भक्ति की भावना निष्कपट और उनका त्याग महान् था। आप सरलता, सादगी और विनम्रता की सजीव प्रतिमा थे। स्वाधीनता-संग्राम के उन वीर सैनिकों में, जिन्होंने स्वतन्त्रता की वेदी पर अपने प्राणों को उत्सर्ग कर दिया, आपका नाम और काम किसी से पीछे नहीं है। क्या शिक्षा-सुधार, क्या समाज-सुधार और क्या राजनीति—सभी क्षेत्रों में आपकी सेवाएँ उल्लेखनीय हैं। विशेषतः पंजाब तो आप पर जितना भी गर्व करे, थोड़ा है। वास्तव में वे पंजाब-केसरी थे।

लाला लाजपतराय का जन्म सन् १८६५ में हुआ था। आपके पिता ला० राधाकृष्ण जिला लुधियाना (पंजाब) के जगराँव गाँव के रहने वाले थे। वे स्कूलों के इन्स्पेक्टर थे। ला० लाजपतराय बचपन से ही बड़े मेधावी और प्रखर बुद्धि के थे। बाल्यकाल ही में उन्होंने समस्त धार्मिक एवं ऐतिहासिक पुस्तकों का अध्ययन कर लिया था। इसी कारण बाल्यावस्था से ही उनमें देश-प्रेम एवं अपनी संस्कृति तथा

सभ्यता के प्रति श्रद्धा उत्पन्न हो चुकी थी। अवस्था के साथ-साथ उनके विचार भी परिष्कृत होने लगे।

प्रारम्भिक शिक्षा पिता के पास ही प्राप्त करके १८८० में लुधियाना के मिशन-स्कूल में मैट्रिक पास किया। पुनः लाहौर आकर एफ० ए० पास किया और मुख्तारी की परीक्षा देकर सन् १८८३ में पहले जगराँव और फिर रोहतक में मुख्तारी करने लगे। तत्पश्चात् वकालत की परीक्षा पास करके हिसार आ गए और वहाँ कानूनी प्रैक्टिस करने लगे। कुछ ही दिनों में इस कार्य में आपने पर्याप्त ख्याति प्राप्त कर ली। आपकी प्रसिद्धि का कारण आपकी समाज-सेवा की भावना भी थी। वकालत के साथ-साथ आप सार्वजनिक कार्यों में भाग लेने लगे। आर्य-समाज में आप प्रारम्भ से ही दिलचस्पी लेते रहे थे। अतः दिनोंदिन आपकी लोकप्रियता बढ़ने लगी।

१८९२ में आप लाहौर जाकर वकालत करने लगे। वहाँ जाकर आपने शिक्षा-प्रसार के लिए अथक परिश्रम किया। आपने डी० ए० वी० कालिज को अपनी सेवाएँ समर्पित कर दीं। आप उसके अध्यापक तथा अवैतनिक मन्त्री नियुक्त हुए। १९०१ में आपने पंजाब में शिक्षा-समिति की नींव डाली और जगराँव में अपने पिता के नाम पर राधाकृष्ण हाई स्कूल तथा पंजाब के अनेक स्थानों पर प्राइवेट स्कूल खुलवाये। शिक्षा-क्षेत्र में यह आपका क्रान्तिकारी कार्य था।

इसके अनन्तर आपने जन-सेवा के कार्यों में तन, मन, धन से भाग लिया। १८९६ में उत्तरी भारत में तथा १८९९ में राजपूताना में भीषण दुर्भिक्ष पड़े। लाला जी ने अकाल-पीड़ितों की सहायता में दिन-रात एक कर दिया। इससे आपकी लोकप्रियता में चार चाँद लग गए। सन् १९०७-८ में बिहार तथा युक्तप्रान्त के अकाल-पीड़ितों की भी आपने सहायता की। बिहार-दुर्भिक्ष के समय सरकार ने भी आपके कार्यों की प्रशंसा की थी। १९०५ में काँगड़ा में भूचाल से जन-धन की अत्यन्त क्षति हुई। लाला जी

स्वयं वहाँ गये और स्वयं-सेवक-संघ बनाकर अकाल-पीड़ितों की सहायता की।

इन समस्त कार्यों के साथ-साथ कांग्रेस में भी आपका प्रभाव बढ़ रहा था। सन् १८८८ में प्रथम बार इलाहाबाद-कांग्रेस में सम्मिलित हुए। वहाँ आपने कौंसिल-सुधार के प्रस्ताव पर महत्त्वपूर्ण भाषण दिया, जिसकी बड़ी प्रशंसा हुई। आपकी प्रेरणा से ही कांग्रेस का ध्यान शिक्षा-सुधार एवं देशी उद्योग-धन्धों की ओर आकर्षित हुआ था। तत्पश्चात् आप कांग्रेस के सभी अधिवेशनों में भाग लेते रहे और पंजाब के प्रमुख कांग्रेसी नेता माने जाने लगे।

१९०६ में कांग्रेस का जो शिष्टमण्डल इंगलैंड गया उसके आप भी सदस्य थे। इसके अनन्तर १९११ में भेजे गए शिष्टमण्डल के साथ भी आप इंगलैंड गये। इसके अतिरिक्त पुनः कई बार व्यक्तिगत रूप से इंगलैंड जाकर आपने अपने लेखों, भाषणों एवं भेंटों द्वारा भारत के लिए सराहनीय कार्य किया। १९१४ के महायुद्ध के समय आप इंगलैंड में ही थे। आपको भारत आने की आज्ञा नहीं दी गई, तब आप अमरीका चले गए। वहाँ जाकर आपने अमरीकन जनता के हृदय में भारत के प्रति सहानुभूति उत्पन्न की और भारतीय स्वाधीनता के लिए जबरदस्त प्रचार किया। अमरीका में आपने 'इण्डियन होमरूल लीग' तथा 'इण्डियन इन्फारमेशन ब्यूरो' नामक संस्थाएँ स्थापित कीं। वहाँ से आपने 'यंग इण्डिया' नामक एक साप्ताहिक पत्र भी प्रकाशित किया। भारत के सम्बन्ध में बहुतसी पुस्तकें भी लिखीं और मुफ्त वितरित कीं। इस प्रकार दूर देश में रहकर भी आपने स्वदेश के लिए अनुपम कार्य किया। १९२० में आप अमरीका से भारत लौट आए।

सन् १९०७ में बंग-भंग के कारण समस्त देश में एक नवीन जागृति हो चुकी थी। पंजाब भी इस चेतना से वंचित नहीं था। पंजाब में भी इधर-उधर कुछ असाधारण घटनाएँ होने लगीं। लाला जी ने इस

जागृति में उत्साहपूर्वक भाग लिया। परिणाम यह हुआ कि आप सरकार की नज़रों में खटकने लगे और मई १९०७ में पंजाब-सरकार द्वारा गिरफ्तार करके मांडले (बर्मा) जेल में नज़रबन्द कर दिया गया। किन्तु ६ महीने पश्चात् ही आपको मुक्त कर दिया गया।

जब आप जेल से बाहर आये, उस समय कांग्रेस में नरम और गरम दो दल उत्पन्न हो चुके थे। आपको ढीली नीति प्रिय नहीं थी, इसलिए आपका गरम दल में होना स्वाभाविक भी था। उस समय 'लाल बाल पाल' के नाम से 'गरम दल' के तीन नेता बड़े प्रसिद्ध थे। इनमें लाला जी, लोकमान्य तथा विपिनचन्द्र थे। १९०७ में सूरत-कांग्रेस में दोनों दलों का खूब संघर्ष चला। गरम दल वाले लाला जी को सभापति बनाना चाहते थे। आपने दोनों दलों में समझौता कराने का बहुत प्रयत्न किया, किन्तु असफल रहे। अन्त में लोकमान्य तिलक के नेतृत्व में गरम दल कांग्रेस से अलग हो गया।

१९२० में गांधी जी के असहयोग-आन्दोलन पर विचार करने के लिए कलकत्ता में कांग्रेस का विशेष अधिवेशन हुआ, जिसका सभापति आपको बनाया गया। उग्रवादी होने के कारण असहयोग एवं सत्याग्रह में आपका विश्वास न था; फिर भी जब नागपुर-कांग्रेस में असहयोग का प्रस्ताव स्वीकृत हो गया तो आपने भी पूरी श्रद्धा से उसमें भाग लिया। गांधी जी के असहयोग-आन्दोलन में आप पीछे नहीं रहे। स्कूलों और कालिजों के बहिष्कार के समय आपने पंजाब में चमत्कारपूर्ण कार्य कर दिखाया। देखते-ही-देखते पंजाब के सरकारी स्कूल और कालिज छात्रों से खाली हो गए। साथ ही युवकों को राष्ट्रीय शिक्षा देने के उद्देश्य से आपने लाहौर में स्वतन्त्र कालिज खोला। इन हलचलों के परिणामस्वरूप सरकार ने आपको गिरफ्तार कर लिया; किन्तु कुछ समय बाद ही छोड़ दिये गए। रिहा होते ही आप पूर्ववत् पुनः अपने कार्य में जुट गए और १९२२ में पुनः गिरफ्तार करके २ वर्ष के कारावास का दण्ड दिया गया। जेल में आप रुग्ण हो गए

और आपका स्वास्थ्य दिन-प्रति-दिन गिरने लगा। अन्त में अधिक स्वास्थ्य बिगड़ने पर १६२३ में आपको छोड़ दिया गया।

१६२३ के अन्त में लाला जी 'कांग्रेस-स्वराज्य-पार्टी' में सम्मिलित हो गए। आपको लेजिस्लेटिव असेम्बली का सदस्य चुना गया; किन्तु सन् १६२५ के 'वाक-आउट' सिद्धान्त पर 'स्वराज्य-पार्टी' से आपका मतभेद हो गया और आप 'स्वराज्य-पार्टी' से निकल आए तथा पं० मदनमोहन मालवीय के साथ मिलकर 'नेशनलिस्ट पार्टी' की स्थापना की। इस पार्टीबन्दी के कारण राजनीतिक जगत् में आपकी लोकप्रियता घटने लगी; किन्तु आपने इसकी परवाह नहीं की। 'नेशनलिस्ट पार्टी' के नाम से आपने पंजाब में दो जगह चुनाव लड़े और सफलता भी प्राप्त की।

ला० लाजपतराय एक धर्म-परायण व्यक्ति थे। उनके हृदय में हिन्दुत्व की बड़ी प्रबल भावना थी। हिन्दू जाति की उन्नति एवं सुधारों के लिए उन्होंने बहुत कुछ किया। १६०६ में उन्होंने पंजाब में 'हिन्दू महासभा' की स्थापना की। १६२३ में शुद्धि और संगठन आदि आन्दोलनों में आपने पूरा योग दिया। १६२. में 'हिन्दू महासभा' के कलकत्ता-अधिवेशन के आप सभापति बने। १६२८ में आपको इटावा में होने वाली 'हिन्दू कॉन्फ्रेंस' का अध्यक्ष चुना गया। इतना होने पर भी आपके हृदय में संकीर्ण साम्प्रदायिकता की गंध तक न थी। आपने सदैव पृथक् निर्वाचनों का विरोध किया।

लाला लाजपतराय राजनीतिक नेता ही नहीं थे, वरन् एक अच्छे शिक्षा-शास्त्री तथा समाज-सुधारक भी थे। दलितोद्धार के लिए भी उन्होंने बड़ा ठोस कार्य किया। अछूतोद्धार के लिए किया गया उनका परिश्रम भी सराहनीय है। १६२० में उन्होंने 'सर्वेण्ट्स आफ पीपुल सोसायटी' की स्थापना की, जो आज तक दलितोद्धार का कार्य करती रही है। इसके अतिरिक्त अनाथ बच्चों और बीमार स्त्रियों के लिए आपने अस्पताल खोले और अपनी समस्त कमाई इन्हीं लोकोपकारी कार्यों में

व्यय कर दी।

सन् १९२८ के आरम्भ में शासन-सुधार की माँगों के सम्बन्ध में भारतवर्ष की अवस्था की जाँच करने के लिए 'साइमन-कमीशन' भारत में आया, तो देश ने एक स्वर से उसका बहिष्कार किया। जगह-जगह पर उसके विरुद्ध प्रदर्शन किये गए और पुलिस ने प्रदर्शनकारियों पर खूब लाठियाँ बरसाईं। ३० अक्तूबर, १९२८ को साइमन-कमीशन लाहौर पहुँचा। लाहौर में इसके विरोध-प्रदर्शन के लिए जुलूस निकाला गया। जुलूस का नेतृत्व कर रहे थे पंजाब-केसरी ला० लाजपतराय। जब जुलूस स्टेशन पर पहुँचा, जहाँ पर कि कमीशन उतरने वाला था, तो पुलिस ने जुलूस पर अन्धाधुन्ध लाठियाँ बरसानी आरम्भ कर दीं। लाला जी की छाती पर भी लाठियाँ पड़ने लगीं; किन्तु वे अपने स्थान से तनिक भी विचलित नहीं हुए और अपनी छाती फुलाए चट्टान की भाँति अडिग खड़े रहे। यह देखकर जनता विक्षुब्ध हो उठी। उसी समय रायजादा हंसराज ने आगे बढ़कर लाठियों का प्रहार अपने ऊपर लेना आरम्भ कर दिया। लाला जी को बहुत चोट लगी।

उसी सन्ध्या को लाहौर में एक विराट सभा हुई। लाला जी ने उस सभा में भाषण देते हुए कहा था—"मेरी छाती पर किया गया लाठी का एक-एक प्रहार ब्रिटिश सरकार के कफ़न की कील बनेगा।" इस घटना के ठीक १७ दिन बाद १७ नवम्बर को प्रातःकाल लाला जी का देहावसान हो गया। उनकी मृत्यु के सम्वाद से समस्त देश में शोक तथा विक्षोभ की लहर दौड़ गई।

लाला लाजपतराय भारत की एक अनुपम विभूति थे। वे पंजाबी प्रकृति के प्रतीक थे। आज भी पंजाब क्या, समस्त भारत गर्व के साथ उनके नाम का स्मरण करता है।

४

# नेताजी सुभाषचन्द्र बोस

भारतीय स्वाधीनता के इतिहास में जो स्थान महात्मा गांधी एवं पं० जवाहरलाल नेहरू का है, वही स्थान भारत के राष्ट्रीय क्षितिज के देदीप्यमान नक्षत्र नेताजी सुभाषचन्द्र बोस का है। उस वीर पुरुष के आत्मोत्सर्ग की वह कहानी है, जो मृत शरीरों में भी संजीवनी शक्ति का संचार कर देती है। उसने अपने दृढ़ संकल्प, अजेय साहस, स्वार्थ-शून्यता, अपूर्व त्याग एवं अतुल शौर्य द्वारा अपनी मातृभूमि की स्वतन्त्रता के लिए, उससे दूर—बहुत दूर—विदेश में, बिना किसी साधन और सहायता के एक विशाल संगठन करके संसार में कर्मवीरों के लिए एक आदर्श उपस्थित कर दिया। उसके बलिदान का इतिहास आज उसके देश के नाम को संसार के कोने-कोने में ज्योतित कर रहा है। उसमें कोई महत्ता, करामात, जादू अथवा आकर्षण भरा था कि आने वाली पीढ़ियाँ उसे पुरातन और नूतन काल के अनेक वीर पुरुषों के समान एक दिव्य और महान् मानव मानेंगी। वह आज मरकर भी अमर है।

नेताजी का जन्म २६ जनवरी, १८६७ ई० को कटक में हुआ था।

उनके पिता कटक में सरकारी वकील थे। उनकी माता अब्राहम लिंकन, स्काट और रस्किन की माताओं के समान गुणवती और कर्तव्यपरायणा थीं। माता के प्रारम्भिक प्रयत्नों से ही सुभाष बाबू उस पावन चरित्र के धनी बन सके, जो उनके भाग्योदय में विशेष सहायक सिद्ध हुआ।

समृद्धिशाली पिता ने पुत्र की शिक्षा-दीक्षा का समुचित प्रबन्ध किया। पाँच वर्ष की अवस्था में कटक के प्रोटेस्टेंट यूरोपीय स्कूल में प्रविष्ट हुए। वहाँ के अग्रज सहपाठियों के बर्ताव से उन्हें प्रथम बार यह पता लगा कि ये शासक वर्ग के हैं और मैं शासित वर्ग का। सन् १९१३ ई० में रेवनशा कालिजियट स्कूल से उन्होंने प्रथम श्रेणी में मैट्रिक की परीक्षा पास करके छात्रवृत्ति प्राप्त की। वे पढ़ाई-लिखाई में जितनी रुचि रखते थे उतनी ही सांसारिक बातों में भी। उन्होंने सामान्य ज्ञान तथा पश्चिमी विचारों और संस्कृति पर अनेक ग्रन्थ पढ़े। शारीरिक शिक्षा की भी उपेक्षा नहीं की, जिससे उनका शरीर पर्याप्त पुष्ट बन गया और भविष्य में आने वाले संकटों का सामना करने में समर्थ हो सका। वे अपनी माता से धार्मिक विषयों पर चर्चा किया करते थे। स्वामी विवेकानन्द के आध्यात्मिक विचारों पर उनकी श्रद्धा हो गई थी। विद्यार्थी जीवन में ही उनमें सेवा और त्याग के भाव उत्पन्न हो चुके थे और वे उन दिनों भी रोगियों, दुखियों और आर्तों की सेवा में सुख अनुभव करने लगे थे।

१९१३ में वे प्रेसिडेन्सी कालिज, कलकत्ता, में प्रविष्ट हुए। वहाँ मजदूरों के नेता डॉ० सुरेशचन्द्र बनर्जी तथा अन्य उत्साही व्यक्तियों से उनका सम्पर्क हो गया। उनके प्रभाव से सुभाष बाबू को आमोद-प्रमोद से घृणा हो गई और उन्होंने मातृ-भूमि की स्वतन्त्रतापूर्वक सेवा करने के लिए जीवन-भर ब्रह्मचारी रहने का व्रत धारण कर लिया। एक वर्ष के बाद उन्हें संन्यास लेने की जो धुन समाई, तो तुरन्त ही संन्यासी बनकर हिमालय की उपत्यका में समाधि जा लगाई। जब उन्हें वहाँ भी शान्ति व आनन्द न मिला तो वे अत्यन्त निर्बल

होकर घर लौट आए। उन दिनों अपने एक मित्र को उन्होंने लिखा था—"मैं प्रतिदिन अनुभव कर रहा हूँ कि जीवन में मेरा कोई विशेष उद्देश्य है और उसी के लिए मुझे यह शरीर मिला है। मैं लोकमत के प्रवाह में बहने वाला नहीं।" कितनी उच्च भावनाएँ हैं यह। इससे ज्ञात होता है कि प्रारम्भ से ही उनकी आत्मा किसी महान् कार्य करने के लिए अत्यन्त उद्विग्नतापूर्वक छटपटा रही थी।

पुनः आपका अध्ययन प्रारम्भ हो गया। १९१५ में आपने प्रेसिडेन्सी कालिज से एफ० ए० की परीक्षा प्रथम श्रेणी में पास की। इसके पश्चात् १९१९ में स्काटिश चर्च कालिज से बी० ए० पास किया। इसमें भी आप प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हुए। तदनन्तर आप १९१९ में इण्डियन सिविल सर्विस की प्रतियोगिता में भाग लेने के लिए विलायत गए। वहाँ आपने कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय से भी बी० ए० पास किया।

सुभाष के पिता चाहते थे कि वह आई० सी० एस० की परीक्षा पास करके कोई उच्च सरकारी पद प्राप्त करें; किन्तु सुभाष की आत्मा तो किसी महान् कार्य के लिए उत्सुक थी। पिता के कहने से वे आई० सी० एस० की परीक्षा की तैयारी करने लगे। सुभाष विलायत में थे, किन्तु उनकी अन्तरात्मा अपने देश में होने वाली राजनीतिक घटनाओं में पड़ी थी। अतः उन्होंने अन्तरात्मा की आवाज का स्वागत करते हुए १९२१ में अपना त्याग-पत्र दे दिया और चल दिए देश के स्वाधीनता-संग्राम में सैनिक बनकर।

सुभाष बाबू जब स्वदेश लौटे तो देश में घोर अशान्ति फैल रही थी। एक ओर रौलट-एक्ट के विरोध में गांधी जी का सत्याग्रह चल रहा था, तो दूसरी ओर सरकार का दमन-चक्र। आपने एक दृष्टि से सब-कुछ देखा और देशबन्धु की सेना में स्वयं-सेवक बन गए। बाद में राष्ट्रीय विद्यापीठ के आचार्य एवं कांग्रेस-स्वयं-सेवक-दल के कप्तान बनाये गए। प्रिंस ऑफ् वेल्स के स्वागत के बहिष्कार के सम्बन्ध में आपको प्रथम बार ६ मास की सजा हुई थी।

सुभाष बाबू पूर्ण रूप से राजनीतिक क्षेत्र में अवतीर्ण हो चुके थे। १६२२ में बंगाल में जब भयानक बाढ़ आई, तो आपने बाढ़-पीड़ितों की सराहनीय सहायता की। इसके पश्चात् आप गया-कांग्रेस में भी सम्मिलित हुए। बाद में आप 'स्वराज्य-पार्टी' के दैनिक पत्र 'फारवर्ड' के सम्पादक बनाये गए। १६२४ में जब देशबन्धु कलकत्ता के मेयर बने तो आपको चीफ़ एग्ज़ीक्यूटिव अफ़सर बनाया गया। किन्तु उसी वर्ष सरकार ने आपको बंगाल-आर्डिनेन्स के अन्तर्गत गिरफ्तार करके जेल भेज दिया। तीन वर्ष तक आपको जेल में रखा गया। इस बीच में आपका स्वास्थ्य बहुत गिर गया। अन्त में जब अवस्था अधिक बिगड़ती दिखाई दी तो सरकार ने १५ मई, १६२७ को आपको रिहा कर दिया।

जब आप जेल में थे, तभी आपको बंगाल-प्रान्तीय धारा-सभा का सदस्य चुन लिया गया था। सन् १६२८ की कलकत्ता-कांग्रेस में पं० मोतीलाल नेहरू के जुलूस में चलने वाले स्वयं-सेवक-दल के आप सेनानी थे। इस बीच आप देश के बड़े-बड़े नेताओं के निकट सम्पर्क में आ चुके थे। कलकत्ता-कांग्रेस में महात्मा गांधी ने औपनिवेशिक स्वराज्य का प्रस्ताव पेश किया, जिसमें पं० जवाहरलाल नेहरू द्वारा पूर्ण स्वराज्य का संशोधन किया गया। सुभाष बाबू ने पं० नेहरू के संशोधन का जोरदार समर्थन किया। बाद में पं० नेहरू द्वारा बनाई गई 'इण्डिपेंडेंस लीग' के प्रचार में भी आपने पं० नेहरू को यथेष्ट सहयोग दिया था।

दिसम्बर १६२६ में लाहौर-कांग्रेस में पूर्ण स्वराज्य का प्रस्ताव स्वीकृत हुआ। २६ जनवरी को देश-भर में 'स्वतन्त्रता-दिवस' मनाया गया। जगह-जगह पर जलसे किये गए और स्वतन्त्रता की प्रतिज्ञा दोहराई गई। सुभाष बाबू के नेतृत्व में कलकत्ता में भी जुलूस निकाला गया। पुलिस ने सब जगह की भाँति वहाँ भी जुलूस पर लाठियाँ बरसाईं। सुभाष बाबू और उनके साथी कैद कर लिये गए। सुभाष

बाबू को १ वर्ष की सजा हुई। जेल में उन्हें नाना-प्रकार की यातनाएँ दी गईं। परिणाम यह हुआ कि आप पुनः बीमार हो गए। बीमारी की अवस्था में भी आपको कई बार मार खानी पड़ी; किन्तु सरकार आपको छोड़ना नहीं चाहती थी। जब समस्त देश में सनसनी फैलने लगी, तो सरकार ने इस शर्त पर आपको छोड़ना स्वीकार किया कि रिहा होते ही आप भारत में न रहकर यूरोप चले जायँगे। आपने इसे स्वीकार कर लिया और रिहा होते ही वायुयान द्वारा स्विटजरलैण्ड चले गए।

अपने विदेश-प्रवास-काल में सुभाष बाबू चुप-चाप नहीं बैठे। वहाँ आप डी० वेलरा, मुसोलिनी प्रभृति व्यक्तियों से मिले। फ्रान्स और लन्दन भी गए; किन्तु वहाँ रहते-रहते आपका मन ऊब गया। स्वदेश आने पर पुनः गिरफ़्तार कर लिये गए। इससे देश में विक्षोभ की ज्वाला धधक उठी; किन्तु सरकार इससे विचलित न हुई। उधर जेल में पुनः सुभाष बाबू की दशा बिगड़ गई। अन्त में १७ मार्च, १९३६ को सरकार ने आपको रिहा कर दिया। स्वास्थ्य-लाभ के लिए आपको पुनः विदेश जाना पड़ा। यूरोप में आपने भारतीय स्वाधीनता का घोर प्रचार किया और साथ ही ब्रिटिश सरकार की साम्राज्यवादी नीति का भी भंडाफोड़ किया। अन्त में जब वे हरिपुरा-कांग्रेस के लिए प्रधान चुने गए, तब १९३८ में भारत लौटे। कराची में उनका अपूर्व स्वागत किया गया।

१३ फरवरी, १९३८ को हरिपुरा में कांग्रेस का महत्त्वपूर्ण अधिवेशन हुआ। सुभाष बाबू ने अपने राष्ट्रपति-पद से भाषण देते हुए अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति पर प्रशंसनीय प्रकाश डाला और साथ ही अपना नवीन दृष्टिकोण भी उपस्थित किया। संघ-शासन के प्रश्न पर कांग्रेस में तीव्र मतभेद प्रकट होने लगा। सुभाष बाबू संघ-शासन के पक्ष में न थे। मतभेद की खाई चौड़ी होती गई। सुभाष बाबू को नीचा दिखाने के प्रयत्न किये गए; किन्तु गांधी जी के विरोध करने पर भी वे २००

से भी अधिक मतों से आगामी वर्ष के लिए फिर प्रधान चुने गए।

पुनः प्रधान निर्वाचित हो जाने के पश्चात् भी दक्षिण-पक्षी कांग्रेसियों ने सुभाष बाबू से खुलकर असहयोग किया। सुभाष बाबू को इससे मर्मान्तक आघात पहुँचा। यह उनका घोर अपमान था। अन्त में जब समझौते की कोई सूरत न दिखाई दी तो उन्होंने त्याग-पत्र दे दिया। उनके स्थान पर बाबू राजेन्द्रप्रसाद राष्ट्रपति बनाये गए।

कांग्रेस से पृथक् होकर सुभाष बाबू ने कांग्रेस के साहसी अंश को प्रबल बनाने का कार्य आरम्भ कर दिया। इस प्रकार 'फारवर्ड ब्लाक' अथवा 'अग्रगामी दल' का जन्म हुआ। स्थिति यहाँ तक बिगड़ी कि कांग्रेस की ओर से बंगाल-प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी अस्वीकृत कर दी गई। सुभाष के भाई शरच्चन्द्र बोस कांग्रेस से निकाल दिये गए। इधर बंगाल ने भी कांग्रेस हाई कमांड के प्रति खुल्लम-खुल्ला विद्रोह कर दिया। फिर सुभाष बाबू ने बंगाली जनता को संगठित करके हालवेल स्मारक ( काली कोठरी ) को हटा देने के लिए सामूहिक आन्दोलन करने का आदेश दिया। सरकार इस उठने वाले तूफान से भयभीत हो गई और सुभाष बाबू को गिरफ्तार करके जेल में डाल दिया। सुभाष बाबू ने जेल में अनशन आरम्भ कर दिया। अन्त में सरकार ने उन्हें एक मास के लिए छोड़ दिया; किन्तु उनके घर पर कठिन पहरा लगा दिया।

सुभाष बाबू के जीवन का वास्तविक कार्य तो अब आरम्भ होने वाला था। द्वितीय महायुद्ध जोबन पर था और जर्मनी की जीत हो रही थी। सुभाष बाबू ने इस समय विदेशी राष्ट्रों की सशस्त्र सहायता से देश को स्वतन्त्र कराने का अच्छा अवसर समझा। इसके लिए उन्होंने सम्पूर्ण योजना जेल में ही बना ली थी। २६ जनवरी, १९४१ को समस्त देश यह समाचार सुनकर चकित रह गया कि सुभाष बाबू पुलिस की आँखों में धूल झोंककर घर से लुप्त हो गए हैं। बाद में यह रहस्य खुला कि वे दाढ़ी बढ़ाकर, मौलवियों का भेष बनाकर चालीस

मील तक मोटर पर गए, फिर रेल द्वारा पेशावर होते हुए काबुल जा पहुँचे। रूस के कारण उन्हें जर्मनी जाने का पासपोर्ट नहीं मिल सका। अन्त में एक जर्मनी व्यक्ति के पासपोर्ट का उपयोग करके वे वायुयान द्वारा जर्मनी पहुँचने में सफल हो गए।

बर्लिन पहुँचने पर हिटलर ने आपका स्वागत किया और 'भारतीय फ्यूहरर' और 'एक्सिलेंसी' की उपाधि से सम्मानित किया। वहाँ आपने जेरूसलम के ग्रांड मुफ्ती से भी सम्पर्क बढ़ाया। मुसोलिनी से भी भेंट हुई और बर्लिन तथा रोम के रेडियो से आपके व्याख्यान ब्राडकास्ट होने लगे।

उधर सुदूरपूर्व की स्थिति में आश्चर्यजनक परिवर्तन हो रहे थे। सिंगापुर पर जापानियों का अधिकार हो चुका था। अंग्रेज मलाया और वहाँ के भारतीयों को अपने भाग्य पर छोड़कर भाग गए। टोकियो में रासबिहारी बोस के नेतृत्व में 'भारतीय स्वतन्त्रता लीग' की स्थापना हुई। कप्तान मोहनसिंह के आधीन 'आज़ाद हिन्द फौज' तैयार करने का आयोजन किया गया। जापानी सरकार ने लीग को सहायता देने का वचन दिया। जून १९४३ में सुभाष बाबू बर्लिन से टोकियो आ गए थे। रासबिहारी बोस ने उन्हें सविधि 'आज़ाद हिन्द सेना' का सेनापति बना दिया। इसके पश्चात् सुभाष बाबू की आश्चर्यजनक संगठन-शक्ति का परिचय पाकर समस्त संसार दंग रह गया।

सुभाष बाबू को अब कार्य करने के लिए उपयुक्त क्षेत्र मिल गया। उन्होंने तुरन्त 'आज़ाद हिन्द सरकार' की स्थापना की। आज़ाद हिन्द सरकार के कार्य को १९ विभागों में बाँटा गया। जापान, जर्मनी, इटली, चीन आदि ९ विभिन्न सरकारों ने आज़ाद हिन्द सरकार की स्वतन्त्र सत्ता को एक मत से स्वीकार कर लिया था। पहले सिंगापुर, बाद में रंगून को अस्थायी सरकार की राजधानी और प्रधान कार्यालय बनाया गया। नेताजी ने स्वयं घूम-घूमकर अपने भाषणों द्वारा द्रव्य एकत्र करके 'आज़ाद हिन्द बैंक' स्थापित किया। इस प्रकार अनु-

शासन एवं व्यवस्थापूर्ण ढंग से आजाद सरकार का कार्य चलने लगा।

उन्होंने आजाद हिन्द सेना का भी सुव्यवस्थित संगठन किया। समस्त सेना को चार ब्रिगेडों—सुभाष ब्रिगेड, गान्धी ब्रिगेड, नेहरू ब्रिगेड और आजाद ब्रिगेड—में बाँटा। उसमें सभी धर्मों और जातियों के लोग भरती किये गए। अफसरों की शिक्षा के लिए स्कूल खोले गए। जापान-सरकार से कुछ शस्त्रास्त्र भी खरीदे गए। कैप्टन लक्ष्मी की अध्यक्षता में महिलाओं की पृथक् रेजीमेंट बनाई गई, जिसका नाम 'झाँसी की रानी रेजीमेंट' रखा गया। बाल-सेना का भी अलग दस्ता बनाया गया। 'जय हिन्द' और 'चलो दिल्ली' के राष्ट्रीय गीतों पर सेना का मार्च होने लगा। आपका यह सैनिक संगठन और कार्यक्रम बड़े-बड़े युद्ध-विशारदों को भी विस्मय में डालने वाला था।

१८ मार्च, १९४४ का वह दिन भारत के इतिहास में स्वर्णाक्षरों में लिखा जायगा, जब आजाद हिन्द की सेनाएँ साहस और वीरतापूर्वक कोहिमा और मणिपुर के युद्ध में कूद पड़ी थीं। दूसरे ही दिन इम्फाल में राष्ट्रीय झंडा गाड़ दिया गया था। स्वन्तत्रता के इन वीर सैनिकों ने निरन्तर दो मास तक घास खा-खाकर और भूखों मर-मरकर अंग्रेजी सेनाओं का जी तोड़कर मुकाबला किया था। कई बार अंग्रेजी सेनाओं को पीछे हटना पड़ा। परन्तु साधनों और वायु-सेना के अभाव ने आजाद हिन्द की सेनाओं को पीछे हटने के लिए विवश कर दिया। इस बीच जापान ने हथियार डाल दिए और जब अंग्रेजों ने सिंगापुर को ले लिया तब तो सब-कुछ चौपट हो गया। आजाद हिन्द सेना के कुछ सैनिक मारे गए तथा कुछ पकड़े गए। नेताजी वायुयान द्वारा टोकियो के लिए रवाना हो गए। किन्तु २२ अगस्त, १९४५ को टोकियो से यह समाचार आया कि नेताजी सुभाष बोस १२ अगस्त को वायुयान-दुर्घटना में बुरी तरह घायल हो गए और उसी रात को उनका शरीरान्त हो गया। यह सुनकर दुनिया अवाक् रह गई; किन्तु कतिपय लोगों का

अब भी यह विश्वास है कि वे मरे नहीं हैं, वरन् कहीं पर छिपे हुए हैं और उचित समय आने पर प्रकट होंगे। उनकी कीर्ति चिर युगों तक जीवित रहेगी और उनका कार्य भारत के युवकों को सदैव प्रेरणा प्रदान करता रहेगा।

५

# सरदार वल्लभभाई पटेल

उनके अतुल शौर्य, अपूर्व साहस और अद्भुत कार्य-शक्ति ने ही उन्हें एक योद्धा के आसन से उठाकर सरदार बनाया है। यदि गांधी विष्णु और जवाहर ब्रह्मा हैं, तो वल्लभभाई को अवश्य शंकर मानना पड़ेगा; जिनके तीसरे नेत्र के खुलते ही शत्रु भस्मसात् हो जाते हैं। सरदार वल्लभभाई पटेल उन व्यक्तियों में से थे, जो कहते कम और करते अधिक हैं। आप एक सफल, साहसी और विजयी सेनानी थे। स्वाधीन भारत की देशी रियासतों का एकीकरण करके आपने अपनी कार्य-चातुरी और संगठन-शक्ति का अद्भुत परिचय दिया था। आप आपत्तियों से स्वाभाविक प्रेम रखने वाले तथा परिस्थितियों पर विजय पाने वाले सरदार थे। आप एक सफल राजनीतिज्ञ ही नहीं थे, सफल सेनापति भी थे। युद्ध आपको प्रिय था—समझौते की थोथी चर्चा से आप कोसों दूर रहते थे।

सरदार पटेल का जन्म ३१ अक्तूबर, १८७२ में गुजरात के खेड़ा जिले के करमसद गाँव में हुआ था। उनके पिता श्री झवेर भाई लवा जाति के साधारण स्थिति के जमींदार थे। उन्होंने सन् १८५७ के स्वाधीनता-संग्राम में अंग्रेजों के विरुद्ध वीरता के प्रशंसनीय जौहर

दिखाये थे। पिता के समान पुत्र ने भी ६० वर्ष पीछे भारत की स्वतन्त्रता के लिए अपने प्राण हथेली पर रख लिए थे।

सरदार पटेल की प्रारम्भिक शिक्षा गाँव में ही हुई। अपने विद्यार्थी जीवन में वे बड़े नटखट और अपने मित्रों के बने-बनाए सरदार थे। कई बार अध्यापकों से भी आपका झगड़ा हो जाया करता था। माता-पिता उच्च शिक्षा दिलाने में असमर्थ थे, इसलिए सरदार ने मैट्रिक पास करने के पश्चात् मुख्तारी की परीक्षा उत्तीर्ण की और पहले गोधरा तथा उसके बाद बोरसद में मुख्तारी का कार्य आरम्भ कर दिया।

१९१६ में आपने लन्दन जाकर प्रथम श्रेणी में बैरिस्टरी की परीक्षा पास की। आपको पचास पौंड छात्रवृत्ति भी मिली। लन्दन में आप बड़ा सादा जीवन व्यतीत करते थे। विलायत से जब आप भारत लौटे तो एक परीक्षक ने इन्हें चीफ जस्टिस स्काट के नाम पर एक पत्र दिया, जिसमें लिखा था कि ऐसे योग्य व्यक्ति को न्याय-विभाग में कोई ऊँची पदवी मिलनी चाहिए। भारत आकर आपने अहमदाबाद में वकालत आरम्भ कर दी। उनकी असाधारण योग्यता तथा प्रतिभा के कारण कुछ ही दिनों में उनकी गणना नगर के प्रसिद्ध बैरिस्टरों में होने लगी।

बैरिस्टरी पास करने से पूर्व ही आपका विवाह भी हो चुका था। आपकी दो सन्तान कुमारी मणिबेन पटेल तथा डाह्या भाई पटेल हैं। १९०२ में प्लेग की बीमारी से आपकी पत्नी का देहान्त हो गया। किन्तु आप इस दुःखद घटना से तनिक भी विचलित न हुए।

जब आप अहमदाबाद में वकालत करते थे, तब गांधी जी ने राज-नीतिक क्षेत्र में अपना कार्य आरम्भ कर दिया था। गांधी जी देश-भर का पर्यटन करते हुए अहमदाबाद पहुँचे और वहाँ उनके कई व्याख्यान हुए। सरदार पटेल पर गांधी जी के व्याख्यानों का विशेष प्रभाव पड़ा और उनके हृदय में गांधी जी के प्रति श्रद्धा उत्पन्न होने लगी।

सन् १९१६ में आप सार्वजनिक सेवा के क्षेत्र में अवतीर्ण हुए। उस वर्ष गोधरा में गांधी जी की प्रधानता में राजनीतिक सम्मेलन हुआ, जिसमें बेगार-निवारण-समिति बनाई गई और सरदार पटेल को उसका अध्यक्ष चुना गया। गांधी जी चम्पारन चले गए और उसका सब कार्य आपको करना पड़ा। इस कार्य में आपको शानदार सफलता प्राप्त हुई। आपने बेगार-प्रथा बन्द कर दी। गांधी जी ने इस सफलता से प्रसन्न होकर सरदार की बड़ी प्रशंसा की थी।

१९१८ में गांधी जी ने खेड़ा के किसानों की दयनीय अवस्था देखकर वहाँ सत्याग्रह करने का निश्चय किया। उस समय सबसे पहले आपने ही गांधी जी का साथ दिया। उन्होंने गाँव-गाँव में घूमकर किसानों में जागृति उत्पन्न की और उन्हें अपने अधिकार लेने को प्रस्तुत किया। सत्याग्रह बड़े जोरों से छिड़ा और अन्त में सरकार को झुकना पड़ा।

कुछ ही दिनों पश्चात् गांधी जी ने रौलट-एक्ट के विरुद्ध सत्याग्रह आरम्भ कर दिया। सरदार पटेल ने भी उसमें साहसपूर्वक भाग लिया। आपने हँसते-हँसते अनेक कठिनाइयों को सहन किया। पंजाब के हत्याकांड के विरुद्ध गांधी जी ने जब असहयोग-आन्दोलन आरम्भ किया, उसमें भी सरदार पीछे न रहे। गांधी जी के जेल चले जाने के पश्चात् भी आपने गुजरात में चर्खे और खद्दर की धूम मचा दी। उन दिनों आपने बर्मा का दौरा किया और गुजरात विद्यापीठ के लिए १० लाख की भारी रकम एकत्रित की।

१९२३ में नागपुर में कांग्रेसी झंडे की मान-मर्यादा की रक्षा के लिए सत्याग्रह करने की आवश्यकता पड़ी। इस आन्दोलन का अध्यक्ष सरदार पटेल को बनाया गया। उन्होंने इस कार्य को ऐसी सुन्दरता से संगठित किया कि कहीं तनिक भी गड़बड़ न हुई। अन्त में सरकार को झुकना पड़ा और सरदार की विजय हुई। इस विजय से उनका यश दूर-दूर तक फैल गया।

इसके अनन्तर सरदार पटेल को बोरसद में सत्याग्रह करना पड़ा। सरकार ने उस ताल्लुके के लोगों पर इस अपराध पर दो लाख चालीस हजार रुपये का कर लगा दिया कि वे अपराधी जाति के लोगों को आश्रय देते थे। सरदार पटेल के प्रयत्न से वह कर हटा दिया गया। इसी प्रकार आनन्द ताल्लुके में सत्याग्रह करके आपने वहाँ के लोगों का कर क्षमा कराया था। उन दिनों सरदार पटेल किसानों की आत्मा थे और किसान उनकी ललकार पर प्राण तक देने को तैयार रहते थे। १९२४ से १९२८ तक आप अहमदाबाद-म्युनिसिपैलिटी के चेयरमैन रहे और इस पद पर रहकर उन्होंने जनता की अपूर्व सेवा की।

सरदार पटेल को सबसे अधिक ख्याति बारदोली-सत्याग्रह के कारण मिली है। १९२८ में सरकार ने बारदोली ताल्लुके के किसानों का लगान उनके विरोध करने पर भी २२ प्रतिशत बढ़ा दिया। इससे किसानों में असन्तोष फैल गया और उन्होंने सत्याग्रह करने का निश्चय कर लिया। सरदार पटेल को आन्दोलन का नेता बनाया गया। उन्होंने किसानों को बताया कि सत्याग्रह करना कोई खेल नहीं है। इसके लिए उन्हें अनेक कष्ट सहन करने पड़ेंगे। घर-बार और सम्पत्ति लुट जायगी, उनके बच्चे दाने-दाने का मुहताज हो जायंगे, किन्तु किसानों ने उन्हें वचन दिया कि हम सब-कुछ सहन कर लेंगे, किन्तु पीठ नहीं मोड़ेंगे। जब आपको किसानों की दृढ़ता का निश्चय हो गया तो १२ फरवरी को बारदोली में सत्याग्रह का डंका बजा दिया। सरकार के भीषण दमन और अत्याचार करने पर भी सत्याग्रह बराबर चलता रहा। अन्त में सरकार को मुँह की खानी पड़ी और समझौता हो गया। १२ अगस्त को समस्त ताल्लुके में विजयोत्सव मनाया गया। इस सफलता के बाद आप न केवल गुजरात के प्रत्युत समस्त भारत के सरदार बन गए।

१९३० में महात्मा गांधी ने नमक-सत्याग्रह प्रारम्भ किया। सरदार ने उसमें पूर्ण रूप से भाग लिया। इन्हें गिरफ्तार करके तीन मास की कैद की सजा दी गई। कारागार में इन्हें अनेक कष्ट सहन करने पड़े।

जेल से मुक्त होते ही आप फिर देश-सेवा में लग गए। पं० मोतीलाल की गिरफ्तारी के पश्चात् आपको ही राष्ट्रपति बनाया गया। इनकी अधीनता में धरसना और वडाला में सत्याग्रहियों ने बड़ी वीरतापूर्वक पुलिस की लाठियाँ खाईं।

१६३१ में करांची-कांग्रेस में आपको राष्ट्रपति के पद से सम्मानित किया गया। यह प्रसिद्ध ऐतिहासिक अधिवेशन बड़ी विकट परिस्थितियों के बीच हुआ था। समस्त देश में सन्ताप, विषाद तथा विक्षोभ की लहर दौड़ रही थी। ऐसी अवस्था में देश के नेतृत्व की बागडोर सँभालना आप-जैसे साहसी मानव का ही काम था। सरदार ने अपने अध्यक्ष पद से बड़ा हृदय-स्पर्शी भाषण दिया था। इसी अधिवेशन में भगतसिंह की फाँसी पर शोक-प्रस्ताव पास किया गया तथा अन्य कई महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव भी इसी अधिवेशन में पास हुए।

इसके पश्चात् सन् १६४२ तक आप देश के समस्त राजनीतिक कार्यों में तन्मयता के साथ भाग लेते रहे। कई बार जेल गए और कई बार छोड़े गए। कौंसिलों में चुनाव लड़ने के लिए कांग्रेस ने जो पार्लिमेंटरी बोर्ड बनाया, उसका अध्यक्ष सरदार पटेल को बनाया गया। कांग्रेस की शानदार विजय हुई और सात प्रान्तों में कांग्रेस-राज स्थापित हो गया। सरदार पटेल ने बड़ी योग्यतापूर्वक कांग्रेसी मंत्रिमंडल का संचालन किया।

८ अगस्त, १६४२ को बम्बई में भारत-छोड़ो प्रस्ताव पास किया गया। सरदार ने इस अवसर पर बड़ा जोशीला भाषण दिया था। सरकार ने अगस्त-आन्दोलन का पूरी तरह दमन किया और अन्य नेताओं के साथ सरदार पटेल को भी गिरफ्तार कर लिया।

सन् १६४५ में 'शिमला-कॉन्फ्रेंस' के समय अन्य नेताओं के साथ आप भी छोड़े गए। तीन वर्ष के कारावास के पश्चात् आप एक विशाल गम्भीरता और आत्म-विश्वास लेकर देश के सम्मुख आए। गांधी जी के 'भारत-छोड़ो' नारे को आपने 'एशिया-छोड़ो' में परिवर्तित कर दिया।

सितम्बर १९४६ में अन्तरिम सरकार बनी और सरदार पटेल ने उप-प्रधान मंत्री के पद को सुशोभित किया। अपने इस कार्य-काल में उन्होंने अनेक कर्त्तव्यों का पालन करने में युवकों से भी बढ़-चढ़कर उत्साह दिखाया है। अपने जीवन के अन्तिम क्षणों तक गृह-विभाग रियासत-विभाग तथा ब्रॉडकास्टिंग विभाग के अध्यक्ष आप ही रहे। स्वाधीनता-संग्राम में जहाँ अंग्रेजी सरकार से लोहा लेकर आपने अपने अदम्य साहस और अपूर्व शौर्य का परिचय दिया, वहाँ यह भी सिद्ध कर दिया कि अत्यन्त विषम परिस्थितियों में भी शासन-सम्बन्धी जटिल समस्याओं को सुलझाने की अपूर्व क्षमता भी आप में विद्यमान है। भारत की ६०० रियासतों का एकीकरण करके आपने भारत के इतिहास में एक ऐसा उदाहरण उपस्थित कर दिया है, जो विश्व के इतिहास में अन्यत्र कहीं नहीं मिलता। देशी रियासतों की जो समस्या अंग्रेजों के लिए सिर-दर्द बनी रही, आपने उसे बाल-लीला के समान सहज ही सुलझा दिया। कुछ रियासतें प्रान्तों में लीन कर दी गईं, कुछ एकत्र करके हिमाचल प्रदेश, विन्ध्य प्रदेश आदि के रूप में बदल दी गईं। आपने यह कार्य इतनी कुशलता तथा बुद्धिमत्तापूर्वक किया कि बड़े-बड़े राजनीतिज्ञ भी दाँतों-तले अँगुलियाँ दबा गए। जिन रियासतों के शासकों ने भारत-सरकार के विरुद्ध कुछ चूँ-चरा भी की, उनके प्रति सरदार ने कठोर कदम उठाकर अपनी वीरता और साहस का परिचय दिया। रीवाँ, जैसलमेर, अलवर और हैदराबाद आदि इसके स्पष्ट उदाहरण हैं।

आप भारत-सरकार के गृह तथा रियासत-विभाग को और भी सुनियोजित करना चाहते थे कि अचानक १५ दिसम्बर, १९५० को प्रातःकाल ९ बजकर ३७ मिनट पर ७५ वर्ष की अवस्था में बम्बई में आपका देहावसान हो गया। एक वीर सेनानी और पथ-प्रदर्शक के रूप में सरदार के ठोस कार्य और उनका स्थायी प्रभाव सदा हमारे साथ रहेंगे।

वस्तुतः वह देश धन्य है, जिसको सरदार पटेल-जैसा उत्साही, योग्य, बुद्धिमान्, निर्भीक, कर्तव्य-परायण और दृढ़-संकल्पी नेता मिला।

दुर्भाग्यवश जब हमारा देश निर्माण के पुनीत पथ पर उनके सबल निर्देशन में अग्रसर होने वाला था, तभी कराल काल द्वारा वे असमय में ही हमसे छीन लिये गए। यदि सरदार हमारे बीच में कुछ दिन और रहते तो हमारा देश आज न जाने कहाँ होता ?

६

# भारत-कोकिला सरोजिनी नायडू

देवी सरोजिनी नायडू भारत माता की उन वीरांगनाओं में से थीं, जिन्होंने भारतीय स्वाधीनता-संग्राम में एक प्रमुख भाग लेकर भारतीय नारी के आदर्श की गौरव गरिमा का संसार में चमत्कृत कर दिखाया। वे स्त्री होते हुए भी पुरुषों से आगे थीं। उनकी अविचल देश-भक्ति, अदम्य साहस और महान् त्याग के आगे प्रत्येक भारतीय श्रद्धा से नत-मस्तक हो जाता है। भारत के युवक और युवतियों की वे मातेश्वरी थीं। उन्होंने अपनी प्रतिभा, ऐश्वर्य और विलासिता को देश की स्वाधीनता की पुकार पर न्योछावर करके एक अनुपम आदर्श उपस्थित किया और संसार को यह दिखा दिया कि अर्वाचीन युग में भी भारत की महिलाएँ अन्य स्वाधीन राष्ट्रों की नारियों से किसी बात में भी कम नहीं हैं।

सरोजिनी नायडू का जन्म १३ फरवरी, १८७८ को हैदराबाद राज्य में डॉक्टर अघोरनाथ चट्टोपाध्याय के घर में हुआ। चट्टोपाध्याय जी विज्ञान के प्रकाण्ड विद्वान थे। डॉ० अघोरनाथ बंगाली थे। किन्तु उनके पूर्वज कुछ समय से हैदराबाद में आकर रहने लगे थे। विद्या-समाप्ति के अनन्तर उन्होंने हैदराबाद में 'निजाम कालिज' खोला, और उसे

अपने परिश्रम से खूब बढ़ाया।

सरोजिनी पिता की प्रथम सन्तान थीं, इसलिए उनका पालन-पोषण तथा शिक्षा-दीक्षा बड़े आमोद-प्रमोद में हुई। माता के सुशिक्षित होने के कारण उनके घर में अंग्रेजी ही बोली जाती थी। इस कारण सरोजिनी ने बाल्य-काल में ही अंग्रेजी बोलना तथा पढ़ना-लिखना सीख लिया था। बहुत छोटी अवस्था में ही आप अंग्रेजी में कविता करने लगी थीं। वास्तव में कवि-हृदय तो आपको माता-पिता के उभय संस्कारों से ही प्राप्त हुआ था और काव्य-परिशीलन के विशद् और उच्च वातावरण में आपका पालन-पोषण हुआ था। विज्ञान और गणित-जैसे नीरस विषय आपकी कवि-प्रिय आत्मा को रुचिकर नहीं थे। आपके गणित के प्रश्न भी कविता का रूप धारण कर लेते थे। आपकी बुद्धि इतनी तीव्र और कुशाग्र थी कि ११ वर्ष की अवस्था में ही आपने मद्रास की मैट्रिक परीक्षा पास कर ली और १३ वर्ष की अवस्था में आपने १,३०० पंक्तियों की 'लेडी ऑफ् दी लेक' नामक कविता लिखी और लगभग १०० पृष्ठ का 'नाटक' भी रच डाला। आपकी इन कृतियों को देखकर लोग आश्चर्यान्वित हो गए।

आपकी असाधारण प्रतिभा को देखकर निजाम-सरकार ने छात्र-वृत्ति देना स्वीकार किया और सरोजिनी उच्च शिक्षा पाने के लिए इंगलैंड गईं। तीन वर्ष तक वे किंग्स कालिज में शिक्षा पाती रहीं। इन्होंने वहाँ के सभा-समाजों में बड़े उत्साह से भाग लिया। वे इटली की सैर को भी गईं। वहाँ के रमणीक दृश्यों ने इनके हृदय में स्फूर्ति, कल्पना में उड़ान और अन्तर में भव्य भावनाएँ भर दीं। इनकी काव्य-प्रतिभा, जो अभी तक कली के रूप में थी, खिल पड़ी और उन्होंने सुन्दर कविताएँ लिखीं।

१८९८ में वे इंगलैंड से भारत लौट आईं। अपनी स्वतंत्र वृत्ति के कारण उन्होंने स्वयं चट्टोपाध्याय ब्राह्मण होते हुए भी, अब्राह्मण डॉक्टर गोविन्द राजुलू नायडू से विवाह कर लिया। इस अन्तर्जातीय

विवाह से ब्राह्मण-समाज में खूब चिल्ल-पौं मची। किन्तु आपकी स्वतंत्र आत्मा तो जात-पाँत की संकीर्णता से परे थी। सरोजिनी ने अपनी विद्या और कुशलता से घर की भूमि को स्वर्ग बना दिया। उनके चार सन्तान—दो लड़के और दो लड़कियाँ उत्पन्न हुईं।

सरोजिनी नायडू इस देश की उन भावुक और देश-भक्त विभूतियों में थीं जो केवल पराधीन देश में जन्म लेने के कारण ही राजनीति के क्षेत्र में आईं। अन्यथा उनके जीवन का मुख्य कार्य साहित्य-सृजन ही होता। उनकी इंग्लिश कविताओं के संग्रह 'गोल्डन थैशोल्ड' और 'बर्ड ऑफ़ टाइम' इंगलैंड में खूब प्रसिद्ध हुए। किन्तु एक प्रमुख इंग्लिश आलोचक एडमंड ग्रोस ने उनकी कविताओं में भारतीयता के अभाव की तीव्र आलोचना की, जिससे उनके हृदय को एक ठोकर लगी और उनका ध्यान देश की ओर गया।

सन् १९१५ में आप राजनीतिक आन्दोलन एवं स्वतंत्रता-संग्राम में एक सफल वक्ता के रूप में अवतीर्ण हुईं और १९१६ में लखनऊ-कांग्रेस में आप प्रथम बार सम्मिलित हुईं। वहाँ आपने स्वायत्त-शासन पर एक बहुत ही प्रभावशाली भाषण दिया। आपकी वक्तृत्व-शक्ति ने श्रोताओं को मंत्र-मुग्ध कर दिया। उस समय से बराबर आप कांग्रेस के अधिवेशनों में भाग लेती रहीं और आपकी गणना कांग्रेस के नेताओं में की जाने लगी।

१९१७ में आपने समस्त देश का दौरा किया और स्थान-स्थान पर राजनीतिक विषयों पर भाषण दिए। १९१८ में आप मद्रास-प्रान्तीय कांग्रेस की अध्यक्षा बनीं। १९१९ में आपने यूरोप जाकर अन्तर्राष्ट्रीय स्त्री-मताधिकार-परिषद् में अपना भाषण दिया। १९२२ के अन्त में आपने कांग्रेस की ओर से दक्षिणी-अफ्रीका का दौरा किया।

१९२५ में कानपुर में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ। उस समय साम्प्रदायिक दंगों के कारण देश का वातावरण बड़ा विषाक्त था। ऐसे नाज़ुक समय में राष्ट्रपति-पद के लिए किसी ऐसे व्यक्ति की आवश्यकता

थी जो साम्प्रदायिक वैमनस्य के उन्मूलन में समर्थ तथा हिन्दू-मुसलमान सभी का विश्वासपात्र हो। अतः सर्वसम्मति से आपको ही उस गौरवमय पद पर सुशोभित किया गया। आपने अपने सभापति-पद से बड़ा ही हृदयग्राही भाषण दिया।

अगस्त १९२९ में आप अफ्रीका में वहाँ की भारतीय कांग्रेस की अध्यक्षा बनकर गईं। १९३० में नमक-सत्याग्रह के आन्दोलन में साहस-पूर्वक भाग लेकर आपने यह सिद्ध कर दिखाया कि भारतीय स्वाधीनता-संग्राम में महिलाओं का स्थान भी पुरुषों से कम नहीं है। जब गांधी जी और वयोवृद्ध तैयब जी गिरफ्तार कर लिये गए तो सत्याग्रह का संचालन करने आप वहाँ पहुँचीं। धरसना नामक नमक-गोदाम पर धावा बोलने के लिए जो जत्था जा रहा था, उसका नेतृत्व आपने किया। एक स्थान पर आप पूरे २० घण्टे तक धरना दिये बैठी रहीं और उस चिलचिलाती धूप में आपको एक घूँट पानी तक न मिला। किन्तु आप दृढ़तापूर्वक अपने स्थान पर अटल रहीं।

१९३१ में आप महिला सदस्य के रूप में गोलमेज-कॉन्फ्रेन्स में भाग लेने लन्दन गईं और गांधी जी को पूरा सहयोग दिया। १९३१-३२ के आन्दोलनों में भी आप जेल गईं और हँसते-हँसते जेल की यातनाओं को सहन किया। १९४२ के आन्दोलन में भी आपने सक्रिय भाग लिया।

सरोजिनी नायडू ने हिन्दू-मुस्लिम-एकता के लिए सदैव प्रयत्न किया। साम्प्रदायिकता की गन्ध से वे कोसों दूर थीं। उनकी राष्ट्रीयता दूध की भाँति पवित्र एवं उज्ज्वल थी। राष्ट्र के साथ वे पूर्ण तादात्म्य स्थापित कर चुकी थीं। फिर भी वे राजनीतिज्ञ नहीं थीं, देश-सेविका थीं। गांधी जी पर उनका अगाध प्रेम तथा अटूट श्रद्धा थी। गांधी जी के पवित्र संदेश को उन्होंने अपने मुक्त-कंठ से देश और विदेशों में मुखरित कर दिया।

वृद्धावस्था में भी आपके साहस एवं कार्य-शक्ति में कुछ अन्तर

नहीं पड़ा। १६४७ में दिल्ली में एशियायी-सम्मेलन का सभापतित्व आपने ही किया था। भारत के स्वाधीन होने पर १५ अगस्त, १६४७ को आपको युक्तप्रान्त का गवर्नर बनाया गया। आपने इस उत्तर-दायित्व-पूर्ण पद पर कार्य करके अपनी योग्यता और प्रतिभा का अद्भुत परिचय दिया।

११ फरवरी, १६४६ को लखनऊ से दिल्ली को जाते हुए आप सहसा रुग्ण हो गईं और उसके पश्चात् आपकी हालत गिरती ही गई। बीमारी के इन दिनों में आप अनेक सामाजिक समारोहों में भाग लेती रही थीं। बड़े-बड़े योग्य डॉक्टरों की चिकित्सा से भी आपको आराम न हुआ और २ मार्च, १६४६ को प्रातःकाल ३ बजे लखनऊ के गवर्न-मेण्ट हाऊस में आपका देहान्त हो गया। समस्त देश में आपकी मृत्यु का शोक मनाया गया। सरोजिनी नायडू की मृत्यु से गांधी जी का एक अत्यन्त निकटवर्ती व्यक्ति ही नहीं उठ गया, वरन् भारतीय उद्बुद्ध महिला-समाज का एक अनुपम रत्न जाता रहा।

७

# राष्ट्रपति बाबू राजेन्द्रप्रसाद

भारत को अपने जिन मान्य नेताओं पर गर्व है उनमें राष्ट्रपति राजेन्द्र बाबू का नाम अन्यतम है। उनकी सरलता, सौजन्य तथा कर्तव्य-निष्ठा के प्रति प्रत्येक मानव का मस्तक श्रद्धा से झुक जाता है। अपने बाल्यकाल से लेकर आज तक उनके जीवन का अधिकांश समय देश-हित-चिन्तन तथा स्वातन्त्र्य-समाराधान में ही व्यतीत हुआ है। जीवन और कार्य में एकरस रहना ही उनके सार्वजनिक साफल्य तथा अजातशत्रुता की एक-मात्र कसौटी है। गांधी-दर्शन को अपने जीवन में पूर्णतया समाहित करके उसके उज्ज्वल आलोक को आपने अपनी वाणी और लेखनी द्वारा हमारे जन-जीवन में विकीर्ण किया और देश को एक नई चेतना प्रदान की। सही अर्थों में आप राष्ट्रपिता गांधी जी के सच्चे अनुयायी और भारत के अनन्य हित-चिन्तक हैं।

आपका जन्म बिहार प्रान्त के सारन जिले के अन्तर्गत एक अत्यन्त ही छोटे से ग्राम 'जीरादेई' में ३ दिसम्बर, सन् १८८४ को सम्पन्न कायस्थ-परिवार में हुआ था। प्रारम्भ से ही आप शान्त प्रकृति के थे। अपने बचपन में प्रारम्भिक शिक्षा आपने अपने घर पर ही एक मौलवी साहब से प्राप्त की। आप लोग विस्मय कर सकते हैं कि उर्दू से अपनी शिक्षा

को आरम्भ करने वाला यह बालक बाद में हिन्दी का इतना प्रतिभा-शाली लेखक कैसे हो गया। गाँव की प्रारम्भिक शिक्षा के बाद आपने क्रमशः छपरा के जिला-स्कूल से लेकर कलकत्ता-विश्वविद्यालय तक शिक्षा प्राप्त करके सन् १९०६ में बी० ए० तथा १९०८ में एम० ए० की परीक्षाएँ बड़ी सफलतापूर्वक उत्तीर्ण कीं। एम० ए० में तो आप यूनिवर्सिटी में सर्वप्रथम रहे थे। सन् १९१५ में आपने एम० एल० की परीक्षा भी प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की और आप सबके स्नेह-भाजन बन गए।

उनकी इस असाधारण सफलता और प्रतिभा पर मुग्ध होकर बिहार के निर्माता डॉक्टर सच्चिदानन्द सिन्हा ने यह उद्गार प्रकट किए थे—"यह लड़का किसी दिन भारत का नेता बनेगा।" वास्तव में डॉक्टर सिन्हा के वह आशीर्वचन अक्षरशः सफल हुए और उन्होंने अपने जीवन-काल में ही आपको भारत की विधान-सभा के सर्वप्रथम अध्यक्ष का पद स्वयं ही सौंपा। यहाँ यह स्मरणीय है कि डॉक्टर सिन्हा ने ही भारत की विधान-परिषद् की सर्वप्रथम अस्थायी अध्यक्षता की थी, बाद में राजेन्द्र बाबू उसके अध्यक्ष मनोनीत हुए थे।

अपने विद्यार्थी जीवन से ही आपकी प्रवृत्ति सार्वजनिक सेवा के कार्यों की ओर थी। उन्हीं दिनों स्वदेशी-आन्दोलन का प्रारम्भ अत्यन्त वेग से हो चुका था। आपके बड़े भाई (जो आप से ८ वर्ष बड़े थे) उन्हीं दिनों प्रयाग-कांग्रेस की अनेक घटनाएँ सुनाया करते थे, जिससे बालक राजेन्द्र के मन में स्वदेश-प्रेम का बीज अंकुरित हो गया और उन्होंने खद्दर के वस्त्रों का प्रयोग आरम्भ कर दिया। जब आप छात्र-जीवन में ही थे तभी बंगाल का विभाजन हुआ था। बंगाल के अरविन्द घोष, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी तथा विपिनचन्द्र पाल आदि नेताओं ने अपने भाषणों तथा लेखों द्वारा इसके विरुद्ध जोरदार आन्दोलन किया। नवयुवक प्रसाद के हृदय पर उनके इन भाषणों को सुनकर अत्यन्त मार्मिक प्रभाव पड़ा। परिणामतः आपने धीरे-धीरे वहाँ के

सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक तथा राजनीतिक क्षेत्रों में कार्य करना प्रारम्भ कर दिया।

वकालत की परीक्षा सफलतापूर्वक उत्तीर्ण करने पर आपने प्रेक्टिस भी प्रारम्भ कर दी और थोड़े ही दिनों में आपकी गिनती बिहार के अच्छे वकीलों में होने लगी। तब राष्ट्रपिता महात्मा गांधी जी दक्षिण अफ्रीका से भारत लौटे ही थे। उन दिनों महात्मा गांधी द्वारा दक्षिणी अफ्रीका में रहने वाले भारतीयों को नागरिक अधिकार दिलाने के लिए वहाँ जो आन्दोलन प्रारम्भ किया गया था, उसकी भारत में बड़ी धूम थी। भारत के सभी शिक्षित, अशिक्षित नर-नारियों के कानों तक उनके पुनीत नाम तथा काम दोनों की गूँज पहुँच चुकी थी। चम्पारन जिले के एक किसान राजकुमार शुक्ल के कहने पर वे बिहार पहुँचे। उन दिनों बिहार में एक ऐसा आन्दोलन उठ खड़ा हुआ था, जिसने राजेन्द्र बाबू की दिशा ही बदल दी। चम्पारन में गोरे उन दिनों नील की खेती किया करते थे और उन्होंने बड़ी-बड़ी कोठियाँ बनाकर वहाँ नील बनाने का कारबार शुरू कर रखा था। इन निलहे गोरों के यहाँ काम करने वाले बिहार के असंख्य किसानों तथा मजदूरों का बुरा हाल था। सन् १९१७ में महात्मा गांधी, जिनका स्थान भारत के राजनीतिक क्षेत्र में सर्वथा अपरिचित था, वहाँ गए और उन्होंने वहाँ पर रहकर इन अत्याचारों की जाँच करनी चाही। जब उनके आगमन का उद्देश्य वहाँ के सरकारी कर्मचारियों को मालूम हुआ तो वे बड़े क्रुद्ध हुए और उन्होंने उन्हें २४ घण्टे में बिहार से निकल जाने का नादिरशाही आर्डर दे दिया।

गांधी जी भला इस आर्डर से कब विचलित होने वाले थे। वे तो तब दक्षिण अफ्रीका में अपने सत्याग्रह के अस्त्र का परीक्षण करके लौटे थे और भारत में भी उसको प्रयुक्त करने के निमित्त उपयुक्त स्थान और अवसर की खोज में थे। फलतः चम्पारन को उन्होंने अपने सत्याग्रह के अस्त्र को प्रयुक्त करने के निमित्त प्रथम क्षेत्र बनाया। जब गांधी जी ने बिहार से निकलने से सर्वथा असहमति प्रकट की तो सर-

कारी अधिकारियों ने उन्हें गिरफ्तार कर लिया और बाद में छोड़ भी दिया। राजेन्द्र बाबू इस अवसर पर गांधी जी के दाहिने हाथ बन गए। बात-की-बात में सारे बिहार में सरकार के इस रवैये के विरुद्ध असन्तोष की तीव्र लहर दौड़ गई और यह आन्दोलन और भी तूल पकड़ गया। विवश होकर सरकार ने गांधी जी की बात मान ली और उन्होंने गोरों तथा किसानों व मजदूरों की वास्तविक स्थिति की जाँच के लिए एक उपसमिति नियुक्त कर दी, जिसमें गांधी जी को भी बुलाया गया। इसका परिणाम यह हुआ कि सन् १६१८ में बिहार-कौंसिल ने 'चम्पारन अग्रेरियन' कानून पास करके वहाँ के किसानों तथा मजदूरों की अधिकांश शिकायतें दूर कर दीं। गोरों की रंग-भेद-सम्बन्धी उच्चता इस आन्दोलन की आँधी में हवा हो गई।

प्रथम महायुद्ध के उपरान्त सरकार ने जब १६१६ में भारत को 'रौलट एक्ट' नाम का काला कानून दिया तो हिन्दुस्तानियों की आँखें खुल गईं। फिर एक बार आन्दोलन उग्र रूप धारण कर गया। अमृतसर में जलियाँवाला बाग में असंख्य निहत्थे नर-नारियों पर गोलियाँ चलाकर उन्हें धराशायी कर दिया गया। समस्त पंजाब में मार्शल-लॉ लागू कर दिया गया। परिणामतः महात्मा गांधी के नेतृत्व में समस्त देश में फिर 'सविनय अवज्ञा-आन्दोलन' का सूत्रपात हुआ। राजेन्द्र बाबू भला ऐसी स्थिति में कैसे चुप बैठे रह सकते थे। उन्होंने वकालत छोड़कर कार्य करना प्रारम्भ कर दिया। उन्हीं दिनों आपने कालिज और स्कूलों का बहिष्कार करने वाले छात्रों की शिक्षा-दीक्षा के सदुद्देश्य से प्रेरित होकर 'बिहार विद्यापीठ' की स्थापना की। इस प्रकार उन्होंने विद्यापीठ के माध्यम से बिहार में अनेक राष्ट्रीय कार्यकर्त्ता शिक्षित किये। इस विद्यापीठ ने उन दिनों इतना व्यापक रूप धारण किया था कि इससे सम्बद्ध ऐसी ६५ संस्थाएँ प्रान्त में और खुल गई थीं, जिनमें कुल छात्रों की संख्या लगभग ६२,००० थी।

इस प्रकार राजेन्द्र बाबू ने राजनीतिक जीवन में प्रवेश किया और

उन्होंने एकनिष्ठ भाव से गांधी जी द्वारा निर्दिष्ट पथ की मूक भाव से यात्रा की। उनके द्वारा संचालित प्रायः सभी आन्दोलनों में उन्होंने अपनी सामर्थ्य के अनुसार भाग लिया। देश की स्वाधीनता के लिए किये गए तीन प्रमुख आन्दोलनों—असहयोग, सत्याग्रह तथा बयालीस की क्रान्ति—में उन्होंने जिस विश्वास तथा तत्परता से गांधी जी का अनुकरण किया उसको देखते हुए उन्हें गांधीवाद का सर्वोत्कृष्ट प्रतीक माना जाता है। उन्होंने अपने राजनीतिक जीवन में छः बार जेल-यात्रा की है। केवल प्रान्त ही नहीं, प्रत्युत समस्त देश के प्रति आपके द्वारा की गई सेवाएँ अनन्य हैं।

राजेन्द्र बाबू की अटूट देश-भक्ति तथा अथक कर्त्तव्य-निष्ठा आदर के साथ स्मरण की जाती है। उन्होंने गांधी जी से बहुत-कुछ सीखा है। आपकी सादगी, सरलता तथा उदारता आदि गुण उनके 'अजातशत्रु' होने के ज्वलन्त साक्षी हैं। देश ने उनकी सेवाओं का मूल्य आँका, और वे भारतीय राष्ट्रीय महासभा के क्रमशः १९२२, १९३४, १९३९ तथा १९४८ के अधिवेशनों के सभापति रहे। जब-जब भी कांग्रेस के प्रधान के पद को लेकर कोई विवाद उठा तब-तब ही देश की रक्षा का भार उनके सबल कन्धों पर छोड़ा जाता रहा। यही उनकी लोकप्रियता का सबसे प्रबल प्रमाण है।

इस लोकप्रियता के कारण ही वे भारत की प्रथम विधान-परिषद् के अध्यक्ष चुने गए। विधान-परिषद् द्वारा स्वीकृत नव विधान के अनुसार जब भारत स्वतन्त्र गणराज्य घोषित किया गया तब भी वे ही भारत के प्रथम राष्ट्रपति बनाये गए। अब जब भारत में बालिग मताधिकार के आधार पर नये निर्वाचन होकर जो संसद् बनी है, उसने भी एक-मत से राजेन्द्र बाबू को ही अपना राष्ट्रपति मनोनीत किया है। उनकी लोकप्रियता की यह चरम सीमा है। उनकी साधुता तथा सहृदयता का यह प्रमाण है कि राष्ट्र ने फिर उन्हें ही इस उत्तरदायित्व-पूर्ण पद के लिए चुना।

राजेन्द्र बाबू केवल राजनीतिक नेता ही नहीं प्रत्युत एक प्रतिभाशाली लेखक तथा अध्ययनशील साहित्य-प्रेमी भी हैं। हिन्दी-साहित्य और राष्ट्र-भाषा के उत्थान में उनकी सेवाएँ अद्वितीय हैं। अपने छात्र-जीवन से आप हिन्दी के प्रचार तथा प्रसार में जो सक्रिय भाग लेते रहे हैं वह सर्वविदित है। बिहार प्रान्तीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन तथा अ० भा० हिन्दी साहित्य सम्मेलन और राष्ट्रभाषा परिषद् पटना तथा अ० भा० हिन्दी परिषद्-जैसी संस्थाओं की सफलता में आपका विशेष हाथ रहा है। अपने छात्र-जीवन से ही आप हिन्दी-लेखन की ओर क्रियाशील रहे हैं। आपके लेख उन दिनों 'भारत-मित्र', 'भारतोदय' तथा 'कमल' आदि पत्रों में प्रकाशित हुआ करते थे। हिन्दी-साहित्य सम्मेलन के आप सभापति भी रह चुके हैं। आपने सन् १९२० में 'देश' नामक एक सुन्दर साप्ताहिक पत्र भी निकाला था। आपकी प्रमुख हिन्दी कृतियों में 'चम्पारन में गांधी', 'खण्डित भारत', 'बापू के कदमों में' तथा 'आत्म-कथा' उल्लेखनीय हैं। आपने जीवन में हिन्दी के व्यवहार का जैसे नियम ही बना लिया है। अभी पिछले दिनों ब्रज-साहित्य मण्डल के हाथरस-अधिवेशन का उद्घाटन करते हुए उन्होंने हिन्दी-साहित्य और उसकी शक्ति पर जो विचार प्रकट किये हैं, वे मननीय हैं।

साहित्यिक रूप के अतिरिक्त आपकी एक और दिशा समाज-सेवी की भी है। आपने अपने विद्यार्थी-जीवन में भी पढ़ाई छोड़कर बाढ़-पीड़ितों की अकथनीय सेवा की थी। ३४ में बिहार के भूकम्प के समय आप जेल में थे। १६ जनवरी को जब आप जेल से छूटे तो स्वयं दमे के रोगी होते हुए भी आपने जिस तन्मयता से कार्य किया वह आश्चर्य-जनक है, इस प्रकार वर्षों तक समाज-सेवा के कामों में व्यस्त रहने के कारण उनका एक यह रूप भी जनता के सामने आ गया।

इस प्रकार हमारे राष्ट्रपति बाबू राजेन्द्रप्रसाद के सार्वजनिक जीवन के सारे पहलू हमारे सामने आ जाते हैं। अपनी योग्यता तथा अजात-शत्रुता के कारण ही आप देश के अबाल-वृद्ध स्त्री-पुरुषों के दिलों में

घर कर चुके हैं। एक बार एक ब्रिटिश गवर्नर ने एक पत्रकार से भेंट करते हुए उनके सम्बन्ध में निम्न उद्‌गार प्रकट किये थे, जो आज भी अक्षरशः सत्य अनुभव हो रहे हैं—

"डॉक्टर राजेन्द्रप्रसाद एक सुमधुर सुगन्धित फूल हैं; जिसकी अत्यधिक कीमत है। जिनके बिना उनका जनक पौधा गाँधीवाद बहुत पहले ही सूख गया होता तथा अप्रसिद्धि के गहरे अंधकार में ही पड़ा रहता। यदि गुलाब का फूल सुन्दर न होता तो उसे कौन पूछता। उसके काँटों के कारण उसकी उपेक्षा ही होती।"

राजेन्द्र बाबू सचमुच ऐसे फूल हैं जिनके सौजन्य तथा सारल्य की सुवास आज भारत के जन-जन के मन में बसी हुई है। देश को अपने अजातशत्रु राष्ट्रपति पर गर्व है।

८

# पण्डित जवाहरलाल नेहरू

घोर कर्मठता, अदम्य साहस, बिजली-जैसी स्फूर्ति, सिद्धान्त-शूरता, अतुल भावुकता, महान् त्याग, अपूर्व कर्मशीलता, अद्वितीय निर्भीकता, चट्टान-जैसी दृढ़ता और अत्यन्त विनोदप्रियता इन समस्त गुणों का एकत्र-सामंजस्य यदि कहीं देखना है, तो वह आज के स्वाधीन भारत के प्रथम महामात्य पं० जवाहरलाल नेहरू में ही देखने को मिलेगा। तरुण जवाहर में जहाँ बुद्ध, महावीर और अशोक का राजसी ऐश्वर्य है, वहाँ दयानन्द और महात्मा गांधी का संयम भी है। ऐश्वर्य और संयम के पावन संगम पर खड़े होकर इस तरुण नरवीर ने जो उग्र तपश्चर्या की उसने भारत के जीर्ण कंकाल में जीवन डाल दिया और उसके अचेतन शरीर में चेतना की लहर दौड़ा दी। इसने अपने जीवन के २६ वर्ष जेलों के निगड़ बंधनों में—यातनाओं और क्लेशों में—बिता-कर भारत को दासता की अटूट शृङ्खला से मुक्ति दिलाई और अपने सतत अध्यवसाय तथा निरन्तर तपश्चरण से स्वतन्त्र भारत का प्रथम महामात्य बनकर देशवासियों को—विशेषतः आशावादी युवकों को—ऊँचे मनुष्यत्व का वह आदर्श दिखाया, जो संसार के इतिहास में अद्वितीय है।

पं० जवाहरलाल नेहरू एक क्रियाशील, आशावादी और साहसी मानव हैं। सिद्धान्त से बुद्धिवादी होते हुए भी वे स्वभाव से भावुक हैं। साथ ही गम्भीर भी सागर के समान—अन्दर उठते तूफ़ानों का उनके चेहरे से कुछ पता नहीं लग सकता। कठिनतम परिस्थितियों में भी वे विचलित नहीं होते। वे गरमी और प्रकाश दोनों ही देते हैं। उनमें मानवता को अधिक अच्छी स्थिति में पहुँचाने के लिए एक व्याकुलता और एक आग है। वह आग, जो हृदय-पटल को स्पर्श करके उसे भी आग बना देती है। इसके साथ उनका अनोखा व्यक्तित्व हृदयहारी है। आज भी उनमें वही जीवन की आशावादिता, वही जीवन का स्रोत है। वृद्ध होने पर भी वह तरुणों के सम्राट् हैं—वे जो कुछ भी हैं, अपने ढंग के एक ही हैं।

पं० जवाहरलाल का जन्म प्रयाग के एक ऐसे काश्मीरी परिवार में १६ नवम्बर, १८८६ को हुआ, जो उनके पिता के समय ऐश्वर्य और प्रभाव की दृष्टि से सबसे ऊँचा माना जाता था। उनके पिता स्व० पं० मोतीलाल नेहरू कानून के गम्भीर ज्ञान और अनुपम तर्क-शक्ति के कारण भारत-भर में प्रसिद्ध थे और अपनी योग्यता से खूब धन कमाकर राजा-महाराजाओं के समान विलासमय जीवन व्यतीत करते थे।

जवाहरलाल का पालन-पोषण सुख और आडम्बरपूर्ण परिस्थिति में हुआ। ६ वर्ष से १२ वर्ष तक घर पर ही शिक्षा प्राप्त की। मई १६०५ में नेहरू-परिवार इंगलैंड चला गया। वहाँ जवाहरलाल इंगलैंड के 'हैरो कालिज' में प्रविष्ट हो गए। अध्ययन के लिए वहाँ का वातावरण उनके बिलकुल अनुकूल था। १६०७ में उन्होंने 'कैम्ब्रिज विश्व-विद्यालय' के ट्रिनिटी कालिज में प्रवेश किया। वहाँ से जन्तु-विज्ञान, वनस्पति-विज्ञान एवं रसायन-शास्त्र में बी० ए० पास किया। आपकी असाधारण प्रतिभा से सन्तुष्ट होकर कालिज के अधिकारियों ने आपको बिना परीक्षा लिए ही एम० ए० की उपाधि दे दी। कालिज की शिक्षा समाप्त करके आप 'इनर-टेम्पुल' में भरती हुए और १६११ में बैरिस्टरी

पास करके भारत लौट आए

भारत आकर उन्होंने इलाहाबाद में वकालत आरम्भ कर दी। परन्तु उन्हें अपनी जीवन-चर्या अंग्रेजी आमोद-प्रमोदों से शून्य होने के कारण नीरस प्रतीत होने लगी और उनका जी उससे बिलकुल ऊब गया। तब सहसा उनके हृदय में भारी परिवर्तन हुआ और उन्होंने जी-जान से अपने को कांग्रेस के कार्यों में लीन कर दिया। १९१२ में वे बाँकीपुर में कांग्रेस के प्रथम अधिवेशन में सम्मिलित हुए थे। वहाँ गोखले के व्यक्तित्व का आप पर विशेष प्रभाव पड़ा। १९१६ में दिल्ली-निवासी पं० जवाहरलाल कौल की सुपुत्री कमला देवी से आपका विवाह हो गया। १९१७ में पुत्री इन्दिरा का जन्म हुआ। १९२२ में एक पुत्र भी हुआ, परन्तु दुर्भाग्यवश वह जीवित न रह सका।

सन् १९२० तक जवाहरलाल जैसे-तैसे वकालत का कार्य करते रहे। किन्तु उनकी महान् आत्मा तो किसी विशेष कार्य के लिए छटपटा रही थी। अतः आप वकालत छोड़कर राजनीतिक क्षेत्र में कूद पड़े। गोखले की अपील पर पचास हज़ार का चन्दा एकत्र करके प्रवासी भारतीयों की सहायता के लिए अफ्रीका भिजवाया। डॉ० एनी बेसेण्ट और तिलक की 'होमरूल लीग' में भी आपने खूब कार्य किया। तत्पश्चात् अवध के किसानों में भ्रमण करके उनकी सराहनीय सेवा की।

१९२० में गांधी जी ने विदेशी-बहिष्कार और खिलाफ़त-आन्दोलन आरम्भ किया। जवाहरलाल ने उसमें खुलकर भाग लिया। १९२१ में उन्हें छः मास की और १९२२ में अठारह मास की कैद हुई। १९२२ में ही उन्हें प्रयाग-म्युनिसिपैलिटी का अध्यक्ष चुना गया। इसी बीच नाभा राज्य में सिखों पर अत्याचार किया गया, जिससे द्रवित होकर जवाहरलाल नाभा गए, किन्तु गिरफ्तार कर लिए गए। कुछ दिनों वहाँ की हवालात में रहकर उन्होंने देशी रियासतों के शासन एवं न्याय-व्यवस्था का निकट से अध्ययन किया।

१९२६ में उनकी पत्नी कमला बीमार हो गईं, वे उन्हें लेकर स्विट-

जरलैण्ड गये। कमला के कुछ स्वस्थ होने पर उन्होंने यूरोप की राजनीतिक गतिविधि में भाग लेना प्रारम्भ कर दिया। सन् १९२७ में वे जिनेवा में साम्राज्य-विरोधी-संघ के अधिवेशन में भारतीय राष्ट्र-सभा के प्रतिनिधि के रूप में सम्मिलित हुए। उसी वर्ष वे सोवियत-संघ के दसवें वार्षिकोत्सव में सम्मिलित होने के लिए सपरिवार मास्को गये। कुछ दिन मास्को रहकर उन्होंने साम्यवादी विचारधाराओं का गम्भीर अध्ययन किया। इसी यूरोप-प्रवास में अन्य देशों की राजनीतिक विचारधाराओं का सूक्ष्म अध्ययन करने का उन्हें अवसर मिला।

जब वे अपनी यूरोप-यात्रा से लौटकर भारत आए तो उस समय देश एक विशाल संघर्ष के लिए तैयार हो रहा था। उन्हीं दिनों कलकत्ता में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ, किन्तु उसमें महात्मा गांधी के व्यक्तित्व के कारण पूर्ण स्वराज्य का प्रस्ताव पास न हो सका। इससे असन्तुष्ट होकर पं० नेहरू ने 'स्वाधीनता-संघ' (इण्डिपेण्डेंस लीग) की स्थापना की, जिसका लक्ष्य पूर्ण स्वाधीनता प्राप्त करना था।

१९२९ में आपको लाहौर-कांग्रेस का सभापति बनाया गया। लाहौर-कांग्रेस पं० नेहरू के जीवन की एक महत्त्वपूर्ण स्मृति है। देश ने पिता के बाद पुत्र को राष्ट्रपति के पद से सम्मानित किया। लाहौर-कांग्रेस में 'पूर्ण स्वाधीनता' का प्रस्ताव पास हो गया और २६ जनवरी को देश-भर में 'स्वाधीनता-दिवस' मनाया गया। रावी के तट पर स्वाधीनता-प्राप्ति की शपथ ली गई। समस्त देश एक विशाल संघर्ष के लिए प्रस्तुत हो गया। संघर्ष की रूपरेखा गांधी जी ने प्रस्तुत की। १९३० का तूफ़ानी आन्दोलन प्रारम्भ हुआ। कानून तोड़े गए और जेलें भर दी गईं। पं० नेहरू को भी एक साल तक जेल में रहना पड़ा। समझौते की बातचीत चलने पर सरकार ने उन्हें छोड़ दिया।

इसी समय साइमन-कमीशन भारत में आया। देश-भर में उसका बहिष्कार किया गया। पंजाब में ला० लाजपतराय पर लाठी-चार्ज हुआ और लखनऊ में पं० जवाहरलाल पर। जीवन में पहली बार ही पण्डित

जी ने मार का अनुभव किया था। इन संघर्षों में समझौते के प्रयत्न भी चलते रहते थे, किन्तु परिणाम कुछ न निकलता था। पं० नेहरू का कार्य अब आन्दोलन करना और जेल जाना ही बन गया था। जेल से बाहर निकलते ही वे पुनः किसानों में कर-बन्दी-आन्दोलन की ज्योति फूँक जाते और जेल चले जाते।

इस बीच पं० मोतीलाल बीमार हो गए। जवाहरलाल और उनके बहनोई रणजीत पण्डित को छोड़ दिया गया। किन्तु पं० मोतीलाल की दशा में कोई सुधार न हुआ और अन्त में उनका देहान्त हो गया। पं० जवाहरलाल को पिता की मृत्यु से एक भीषण मानसिक आघात पहुँचा, परन्तु गांधी जी के सहयोग और सहानुभूति से उन्हें विशेष सान्त्वना प्राप्त हुई।

१९३१ में जब गांधी जी गोलमेज परिषद् से भारत लौटे तो उन्हें बम्बई आते ही गिरफ्तार कर लिया गया। पं० जवाहरलाल गांधी जी से मिलने बम्बई जा रहे थे, उन्हें रेल में ही गिरफ्तार कर लिया गया; अन्य नेता भी पकड़ लिये गए। पं० नेहरू को प्रायः नैनी जेल में रखा जाता था। अब की बार उन्हें देहरादून जेल में लाया गया। २ वर्ष कैद में रहने के पश्चात् उन्हें मुक्त किया गया, परन्तु कुछ ही महीनों के बाद पुनः बन्दी बना लिया गया। उन्हीं दिनों उन्होंने देहरादून जेल में अपनी आत्म-कथा 'मेरी कहानी' और 'विश्व इतिहास की झलक' लिखकर साहित्य की सराहनीय सेवा की। इसी बीच में उनकी पत्नी का स्वास्थ्य फिर इतना अधिक बिगड़ गया कि सरकार ने आपको जेल से मुक्त कर दिया, और ११ दिन बाद पुनः पकड़ लिया गया। जब कमला का स्वास्थ्य न सुधरा तो उन्हें इलाज के लिए जर्मनी ले जाया गया। नेहरू जी को अपनी प्रिय पत्नी के पास पहुँचने के लिए मुक्त कर दिया गया। २६ फरवरी, १९२६ को अपने पति तथा देश को शोक-मग्न करती हुई कमला स्वर्ग सिधारीं। जवाहरलाल लाचार होकर स्वदेश लौट आए और कृतज्ञ राष्ट्र ने उन्हें लखनऊ-कांग्रेस का प्रधान

बनाया। अगले वर्ष फैजपुर-कांग्रेस के प्रधान भी वही निर्वाचित किये गए।

१९३८ में यूरोप में द्वितीय महायुद्ध का बीजारोपण हो गया। उस समय जवाहरलाल वहीं पर थे। उन्होंने यूरोप के प्रजातन्त्र-अधिकारियों को भारत का संदेश दिया। २० जून को पेरिस-रेडियो से एक प्रभावशाली भाषण ब्राडकास्ट किया, जिससे सारे संसार में शोर मच गया। इसके बाद आप इंगलैंड गए और वहाँ अनेक प्रतिष्ठित व्यक्तियों से मिलकर उनमें भारत के प्रति सहानुभूति उत्पन्न की। अनेक सभाओं में व्याख्यान देकर विदेशियों को भारत की समस्या से अवगत किया। नवम्बर १९३८ में आप भारत लौट आए।

भारत लौटकर आपने राष्ट्र-निर्माण-समिति की स्थापना का महत्त्वपूर्ण कार्य किया। यद्यपि प्रान्तों में कांग्रेसी मंत्रिमण्डल कार्य कर रहे थे, तथापि कांग्रेस के सामने समस्त राष्ट्र के संगठन की कोई वैधानिक योजना नहीं थी। इसी उद्देश्य से आपने उक्त समिति का निर्माण किया था। इस समिति की २९ उपसमितियाँ बनाई गईं। धीरे-धीरे समिति का कार्य बढ़ता गया और राष्ट्र-निर्माण के प्रत्येक पहलू का समावेश हो गया। राष्ट्र-निर्माण के बहुमुखी कार्य में इस समिति ने बड़ी सहायता पहुँचाई है।

१९३९ में आपने लंका की यात्रा की और भारतीयों के प्रश्न को लेकर वहाँ जो कटु वातावरण उत्पन्न हो गया था, उसको दूर किया। अगस्त में आप विमान द्वारा चीन गये और चीन में राष्ट्रपति मार्शल च्यांग काई शेक एवं उनकी पत्नी से निकट मैत्री-सम्बन्ध स्थापित किया। इसी बीच यूरोप में महायुद्ध प्रारम्भ हो गया और आपको तुरन्त भारत लौट आना पड़ा।

क्रिप्स-योजना की विफलता के बाद सन् १९४२ में जब 'भारत-छोड़ो' प्रस्ताव पास हुआ तो अन्य नेताओं के साथ आपको भी गिरफ्तार कर लिया गया। १९४५ में वेवल-योजना के अनुसार अन्य

नेताओं के साथ आपको भी रिहा किया गया। फिर शिमला-सम्मेलन और कैबिनेट-मिशन की बातचीत में आप बराबर भाग लेते रहे। १९४५ में मौलाना आज़ाद के स्थान पर आपको पुनः राष्ट्रपति बनाया गया। उस समय आप अपने भाषणों में आग उगलते थे। आपने सबसे पहले अगस्त-आन्दोलन का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लिया।

इसके पश्चात् सन् '४६ में अन्तःकालीन सरकार की स्थापना हुई और आपको उसका अध्यक्ष बनाया गया। तत्पश्चात् स्वाधीन भारत-संघ के प्रथम प्रधान-मन्त्री बनने का गौरव श्री पं० जवाहरलाल नेहरू को ही प्राप्त हुआ। भारत सरकार के वैदेशिक विभाग के मन्त्री भी आप ही बने। प्रथम एशियायी देशों का सम्मेलन बुलाकर आप समस्त एशिया के नेता बन चुके हैं। इण्डोनेशिया के प्रश्न को सुलझाने के लिए आपकी अध्यक्षता में एक बार पुनः एशियायी राष्ट्रों का सम्मेलन हुआ था। आज भी एशिया के समस्त दुर्बल और शोषित राष्ट्रों की दृष्टि भारत पर लगी हुई है और आज के भारत के 'जवाहर' सब प्रकार की गुटबन्दी से अलग रहकर समग्र मानव जाति के लिए समानता के अधिकार प्राप्त कराने की चेष्टा कर रहे हैं।

जब से भारत स्वतन्त्र गणतन्त्र घोषित हुआ है तब से नेहरू जी ने देश को विश्व के समुन्नत राष्ट्रों की श्रेणी में लाने के लिए जो-जो उल्लेखनीय कार्य किये हैं, वे किसी से छिपे नहीं हैं। भारतीय गणतन्त्र के प्रथम प्रधान-मन्त्री होने के नाते उनके ऊपर देश का भविष्य सर्वथा निर्भर है। आज जब कि समस्त देश में बालिग मताधिकार द्वारा नये निर्वाचन हुए हैं तब भी आपने देश का नेतृत्व जिस कुशलता से किया है वह उल्लेखनीय है। अब नई संसद् द्वारा भी आप ही भारत के लोक-प्रिय प्रधान-मन्त्री मनोनीत हुए हैं। पण्डित नेहरू के रूप में भारत को फिर एक सजग प्रहरी प्राप्त हो गया है। अपने जीवन के उतरते दिनों में भी आपका उत्साह एवं लगन मन्द नहीं हुई है। वे युवकों जैसी स्फूर्ति और तत्परता से देश-हित के लिए सदैव कार्य-निमग्न रहते हैं। देश को अपने ऐसे कर्मठ तथा जागरूक सेनानी पर गर्व है।

६

# मौलाना अबुलकलाम आज़ाद

भारतीय राजनीति के सफल अधिनायकों में मौलाना अबुलकलाम आज़ाद का नाम विशेष परिगणनीय है। जब से उन्होंने होश सँभाला तब से ही उन्होंने ऐसे अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य किये जिनके कारण उनके भाग्य का नक्षत्र दिनानुदिन उन्नति के आकाश पर अपूर्व आभा को लेकर चमकने लगा। भारत की स्वतन्त्रता के हेतु चलाये गए किसी भी आन्दोलन में आप कभी किसी से पीछे नहीं रहे। महात्मा गांधी के सत्य तथा अहिंसा के पुनीत सिद्धान्तों की अवतारणा भी आपने अपने जीवन में सर्वात्मना कर ली है।

आपकी विद्वत्ता और आध्यात्मिकता निःसन्देह उल्लेखनीय है। इसका एक-मात्र कारण उनके पूर्वजों की प्राचीन परम्परा ही है। उनके पूर्वज शेख जमालुद्दीन मुग़ल-सम्राट् अकबर के विद्या-प्रेम से आकर्षित होकर ही भारत आए थे। उन्होंने 'हदीस' का भाष्य तथा अनेकों और उल्लेखनीय पुस्तकें लिखी थीं। उनकी प्रवृत्तियाँ इतनी आध्यात्मिक और अलौकिक थीं कि जब एक बार सम्राट् अकबर ने उन्हें अपने राज्य में कोई विशेष पद प्रदान करने की इच्छा प्रकट की तो उन्होंने उनका प्रस्ताव ठुकरा दिया। इससे अकबर उनसे अप्रसन्न हो गया

और इसी का परिणाम यह हुआ कि आपके पूर्वज भारत को छोड़कर मक्का चले गए।

मक्का में ही सन् १८८८ में आपका जन्म हुआ था। इनका पहला नाम अहमद था और इनके पिता इन्हें फिरोजबख्श कहकर पुकारा करते थे। इनका बचपन मक्का और मदीने में ही बीता है। वहाँ इनके पिता का घर शिक्षा का केन्द्र बना हुआ था। मौलाना साहब की प्रारंभिक शिक्षा उनके पिता के निरीक्षण में ही हुई और बाद में काहिरा के विश्वविख्यात् विश्वविद्यालय 'अल अजहर' में भी इन्होंने शिक्षा प्राप्त की। प्रारम्भ से ही विद्या-व्यसनी होने के कारण आपने बचपन में ही अच्छी विद्या प्राप्त कर ली थी। इनके सम्बन्ध में महाकवि तुलसीदास की निम्न पंक्तियाँ अक्षरशः चरितार्थ होती हैं :—

"गुरु-गृह पठन गए रघुराई। अल्पकाल बहु विद्या पाई॥"

आपकी मातृभाषा अरबी थी, अतः आपने अरबी भाषा और उसके साहित्य पर थोड़े ही दिनों में पूर्ण प्रभुत्व स्थापित कर लिया। आपने चौदह वर्ष की आयु में ही 'दर्से निजामी' नाम से प्रचलित पाठ्य-क्रम भी बड़ी सरलतापूर्वक पूरा कर लिया था। आपने विद्या-व्यसनी पिता के सारे गुणों को अपने में सम्पूर्ण रूप से उतार लेने की मानो आपने प्रतिज्ञा ही कर ली थी।

आपकी प्रतिभा का प्रमाण इसी से मिलता है कि अपना अध्ययन समाप्त करके आपने सन् १९१२ में 'अल हिलाल' नामक पत्र निकालना प्रारम्भ किया। 'अल हिलाल' के सम्पादकीय लेखों को पढ़कर उनके राजनीतिक ज्ञान और लगन ने मसीहुल-मुल्क और हाली-जैसे विद्वानों को भी चमत्कृत कर दिया। यह पत्र किसी भी दृष्टि से अपने सम-सामयिक पत्रों से पीछे नहीं था। उन्हीं दिनों आपने 'नैरङ्ग आलम' नामक एक और कविता का पत्र निकाला। इस पत्र के द्वारा आपकी कवि-सुलभ प्रतिभा और लगन का पता चलता है। कविता के क्षेत्र में इस पत्र के द्वारा उन्होंने पर्याप्त जागृति की और उनका काव्य-जीवन इससे और

भी चमका। तब ही आपने कविता के लिए 'आज़ाद' उपनाम भी अपनाया। इस प्रकार धार्मिक और साहित्यिक क्षेत्र में अपना सार्वजनिक जीवन प्रारम्भ करके मौलाना राजनीतिक क्षेत्र में प्रादुर्भूत हुए। जिस प्रकार आपने थोड़े-से ही दिनों में साहित्य और धर्म के क्षेत्र में अपनी प्रतिभा के कण इतस्ततः बिखेर दिए थे, उसी प्रकार राजनीतिक क्षेत्र भी आपकी कार्य-कुशलता और कर्मठता का आश्रय पाकर धन्य हो गया।

राजनीतिक अधिकार प्राप्त करने की भावनाएँ तो आप में छात्र-जीवन में ही घर कर चुकी थीं। साहित्य के साथ-साथ आपने धीरे-धीरे राजनीतिक क्षेत्र में भी कार्य करना प्रारम्भ कर दिया। 'अल हिलाल' सम्पादकीय लेखों से भारत के मुस्लिम क्षेत्र में अभूतपूर्व जागृति हुई। मौलाना साहब ने अपने सम्पादकीय लेखों द्वारा अपने पाठकों में राष्ट्रीयता की भावना भरने का पूर्ण प्रयत्न किया। शिक्षा प्राप्त करके जब आप भारत लौटे तो उन्होंने अंग्रेज़ों की कुटिल नीति के दाव-पेचों का बड़ी बारीकी से अध्ययन किया। धीरे-धीरे वे तत्कालीन मुस्लिम शिक्षा-शास्त्री और समाज-सुधारक सर सैयद अहमद खाँ के सम्पर्क में आ गए। उनके सम्पर्क में आकर उन्होंने उनकी शिक्षा तथा राजनीति-सम्बन्धी योजनाओं को भली प्रकार समझा और इसका ही परिणाम यह हुआ कि राष्ट्रीय आन्दोलन दबाने के लिए अंग्रेज़ी सरकार द्वारा बरती जाने वाली भेद-नीति को वे ताड़ गए। वह अपनी सरकार तथा शासन को सुदृढ़ बनाने के लिए मुसलमानों में झूठी धर्मान्धता और कट्टरता उत्पन्न करके उन्हें उकसा रही थी। जब मौलाना आज़ाद ने अंग्रेज़ों की इस चाल का वास्तविक मर्म समझा तो वे मन-ही-मन बड़े क्षुब्ध हुए और मुस्लिम जनता को सही मार्ग-निर्देशन करने के लिए वे अधीर हो उठे।

मौलाना के पत्र 'अल हिलाल' ने उनके इस विचार को साकार रूप देने में विशेष योग दिया। सन् १९१२ में उन्होंने जब यह पत्र

प्रकाशित किया था तब उन्हें इस बात की स्वप्न में भी आशा नहीं थी कि इस पत्र का इतना बड़ा स्वागत होगा। इसकी लोकप्रियता का सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि थोड़े ही दिनों में इसकी ग्राहक संख्या ११ हजार तक पहुँच गई। पत्रकार आज़ाद की प्रतिभा के कण उनके द्वारा लिखे गए लेखों में देखने को मिलते हैं। 'अल हिलाल' की यह एक विशेषता थी कि यह राजनीतिक पत्र होने के साथ-साथ साहित्य तथा धर्म के क्षेत्र से भी अछूता न था।

धीरे-धीरे 'अल-हिलाल' की लोकप्रियता इतनी बढ़ी कि सरकार उसके इस अभ्युत्थान को फूटी आँखों भी न देख सकी और वह बन्द कर दिया गया। परन्तु आज़ाद कब चुप बैठने वाले थे, उन्होंने तुरन्त ही 'अलबलाग' नाम से एक और पत्र निकालना शुरू कर दिया। यहाँ तक हुआ कि जब सरकार उनकी इस ज्वलन्त वाणी के तेज से तंग आ गई तो इनको ७ अप्रैल, १९१५ को बंगाल से निर्वासित कर दिया गया। मौलाना राँची चले आए और सन् १९२० तक वहाँ ही नजरबन्द रहे।

उन्हीं दिनों महात्मा गांधी द्वारा संचालित सविनय अवज्ञा-आन्दोलन की लहर समस्त देश में दौड़ गई। वे सन् १९२१ के तूफानी दिन थे। पंजाब के काले कानून ने समस्त देश में एक भीषण उथल-पुथल मचा रखी थी। इधर सरकार की खिलाफत-नीति भी संसार के सारे मुसलमानों के लिए एक चुनौती थी। इन परिस्थितियों में एक सच्चे राष्ट्रीय संग्राम की पृष्ठभूमि तैयार हो रही थी। सरकार ने उचित अवसर जानकर मौलाना की नजरबन्दी हटा दी और १२ जनवरी सन् १९२० को वे दिल्ली में महात्मा गांधी जी से मिले। हकीम अजमल खाँ, अलीबन्धु और देशबन्धु दास के साथ 'खिलाफत' के सम्बन्ध में अनेक गम्भीर निर्णय होते रहे। अन्त में पूर्ण अहिंसात्मक रीति से 'खिलाफत-आन्दोलन' को प्रारम्भ करने का निश्चय किया गया।

धीरे-धीरे आन्दोलन ने जोर पकड़ लिया और देश के प्रायः सभी गण्य-मान नेता अपने-अपने कार्यों को छोड़कर आन्दोलन में कूद पड़े।

सरकार के अत्याचारों का चक्र और भी तेजी से चलना आरम्भ हो गया। जनता पर मनमाने अत्याचार किये गए। इस आन्दोलन की आँधी से मौलाना आजाद भला कैसे बचे रह सकते थे। परिणाम यह हुआ कि वे भी गिरफ्तार कर लिए गए।

अपने जीवन में उन्होंने जो सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य किया है, वह कुरान शरीफ का अनुवाद और भाष्य करने का है। यह कार्य उन्होंने दिल्ली में रहकर किया था। इस कार्य से उनकी गणना उर्दू तथा अरबी-फारसी भाषा के विद्वानों में होने लगी। अपनी इसी धार्मिक श्रद्धा को आपने सर्वात्मना महात्मा गांधी जी के चरणों में अर्पित कर दिया और उनके साथ ही कार्य करते रहे।

असहयोग और खिलाफत-आन्दोलन में मौलाना ने जो महत्त्वपूर्ण कार्य किया वह उनके सिद्धान्तों और आदर्शों का सच्चा प्रमाण है। आपने अनेक 'एकता-सम्मेलनों' का आयोजन किया, किन्तु सरकार की कुटिल नीति सफल रही और हिन्दू और मुसलमानों में भेद की खाई और भी चौड़ी हो गई। मौलाना ने जब इस समस्या की गम्भीरता को समझा तो उन्होंने साम्प्रदायिक वैमनस्य को शमन करने के लिए बड़े-बड़े प्रयत्न किये। परिणाम यह हुआ कि मुसलमानों में राष्ट्रीयता की लहर बड़े वेग से फैली और उन्होंने भी भारत की स्वतन्त्रता के हेतु चलाये गए प्रायः सब आन्दोलनों में पूर्ण लगन से काम किया।

मौलाना का स्वभाव एक साहित्यिक प्रवृत्ति का व्यक्ति होने के कारण निसर्गतः चिन्तनशील रहा है। उन्होंने अपने मन में देश में प्रच-लित इस विषमता के विष का विवेचन बड़ी बारीकी से किया। कांग्रेस से सम्बन्धित रहने के साथ-साथ उन्होंने मुसलमानों में राजनीतिक चेतना उत्पन्न करने के लिए 'जमैयत-उल-उलमा-ए-हिन्द' के माध्यम से काफी कार्य किया। एक वह समय था जब विरोधी भी जमैयत के कार्यों की तारीफ करते-करते न थकते थे, और जमैयत ही भारत के समस्त मुसल-मानों की प्रतिनिधि एक-मात्र राजनीतिक संस्था थी।

गांधी जी के सम्पर्क और अपनी अटूट कार्य-निष्ठा के कारण मौलाना ने भारतीय राजनीति में धीरे-धीरे अपना वह स्थान बना लिया कि जिसकी अपनी ही विशेषता है। वे अनेकों बार जेलों में गए और सभा-मंचों तथा अपने लेखों द्वारा राजनीतिक जागरण के लिए अपूर्व प्रेरणा दी। हमारी स्वतन्त्रता के लिए लड़ी जाने वाली लड़ाई में मौलाना साहब की अपनी देन है। आप कई बार राष्ट्रीय महासभा कांग्रेस के अध्यक्ष रह चुके हैं। अगस्त-क्रान्ति का ऐतिहासिक प्रस्ताव आपकी ही अध्यक्षता में बम्बई में पास हुआ था। उन दिनों में ऐसे उत्तरदायित्व-पूर्ण पद को सँभालना किसी साहसी व्यक्ति का ही काम था। मौलाना साहब ने अपने कार्य को बड़ी तत्परता और ईमानदारी से निभाया।

धीरे-धीरे १५ अगस्त, १९४७ को भारत स्वतन्त्र हुआ। आप भारत की सर्वप्रथम राष्ट्रीय सरकार के शिक्षा-मन्त्री बने और तब से अभी तक इसी उत्तरदायित्वपूर्ण पद पर अधिष्ठित हैं। आप उर्दू भाषा के माने हुए लेखक ही नहीं, अपितु ख्याति-प्राप्त वक्ता भी हैं, किन्तु सार्वजनिक सभाओं से बचना चाहते हैं। पढ़ना आपका व्यसन है और इसके लिए वे अपने व्यस्त जीवन में से कुछ-न-कुछ समय अवश्य ही निकाल लेते हैं। यदि राजनीतिक उलझनों से उन्हें अवकाश मिलता तो निश्चय ही विज्ञान और शिक्षा के क्षेत्र में मौलाना आजाद ऐसे कार्य करते जिनसे समस्त मानव-समाज उनका ऋणी रहता। भारतीय राजनीति के सफल अधिनायकों में आपका महत्त्वपूर्ण स्थान है। भारत के शिक्षा-मन्त्री के रूप में आप आज भी देश की सेवा कर रहे हैं। शिक्षा-जगत की आँखें आपकी ओर बड़ी आतुरता से निहार रही हैं। काश, आप तक देश की अगणित ज्ञान-लिप्सु जनता की मूक ध्वनि पहुँच सके।

२

# शिक्षा-शास्त्री, समाज-सुधारक

१

राजा राममोहन राय

२

ईश्वरचन्द्र विद्यासागर

३

महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती

४

अमर शहीद स्वामी श्रद्धानन्द

५

महामना पण्डित मदनमोहन मालवीय

६

विश्व-कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर

७

महात्मा हंसराज

१

# राजा राममोहन राय

रत्न-प्रसविनी भारत-भूमि ने अमित काल से अनेक ऐसे पुरुष-रत्नों को जन्म दिया है जो आत्मा और शरीर दोनों की दृष्टि से आदर्श हों। मध्य काल में जब सत्यवादी युधिष्ठिर के सिंहासन पर मुसलमान सम्राट् आरूढ़ हो चुके थे, तब भी विद्यापति, जयदेव, तुलसी, नानक, गुरु गोविन्दसिंह आदि धर्म-प्रचारकों ने समाज की उन्नति का यथेष्ट प्रयत्न किया था। इसके अनन्तर जब मुसलमानों का प्रताप-रवि भी पश्चिमांचल में छिपने लगा और अंग्रेजों की विजय-पताका इस देश पर फहराने लगी, उस समय भी भारत-माँ की गोद सुयोग्य पुत्र-रत्नों से वंचित नहीं रही। अर्वाचीन काल में जिन महापुरुषों ने देश-विदेश में भारत का मुख उज्ज्वल किया है उनमें बंगाल के राजा राममोहन राय का भी एक विशिष्ट स्थान है।

आज से दो शताब्दी पूर्व जब भारत में पश्चिमी सभ्यता का पर्याप्त प्रचार नहीं हुआ था, समस्त देश कुसंस्कारों और कुरीतियों का

अखाड़ा बना हुआ था, धर्म के सिंहासन पर आडम्बर और विलास की प्रतिमूर्तियों का अधिकार था, वैभवशालियों के अत्याचार से, दरिद्र और अहम्मन्य पुरुषों के अनाचार से महिलाओं का दम घुट रहा था, पुण्य-सलिला भागीरथी के दोनों तट अनाथिनी विधवाओं के आर्त-नाद से गुञ्जायमान हो रहे थे, सती-दाह का चितानल धू-धू करके मनुष्यों का उपहास कर रहा था, उस प्रगाढ़ अन्धकार में राजा राममोहन राय दीप-शिखा की भांति प्रकट हुए।

राजा राममोहन राय का जन्म सन् १७७४ में हुगली जिले के अन्तर्गत राधानगर ग्राम में हुआ था। इनके पिता रामकान्त नवाब सिराजुद्दौला के यहाँ एक उच्च पद पर नौकर थे। अन्त में वे नौकरी छोड़कर राधानगर चले गए। वहाँ बर्दवान के राजा से उन्होंने कुछ ग्राम लगान पर ले लिए थे। रामकान्त परम वैष्णव थे और प्रायः तुलसी की माला लेकर राम-नाम का जप किया करते थे। राजा राममोहन राय की जननी भी गुणवती, बुद्धिमती और धर्म-परायणा थीं। तात्कालिक प्रचलित धर्म में उनकी अटूट भक्ति थी। संसार के अन्य महापुरुषों की भांति राममोहन राय ने भी मातृ-भावनाओं से प्रेरित होकर अपनी आत्मा को महान् बनाया।

उस समय संस्कृत, अरबी और फारसी भाषा का प्रचार था। राममोहन राय ने कुछ मास तक संस्कृत का अध्ययन करके फारसी का अभ्यास आरम्भ कर दिया। शैशव-काल से उनकी असाधारण मेधा और तर्क-शक्ति का परिचय प्राप्त करके ग्रामवासी आश्चर्य करते थे। ९ वर्ष की अवस्था तक राममोहन ग्राम में ही प्रारम्भिक शिक्षा-लाभ करते रहे, तदनन्तर उनके पिता ने अरबी और फारसी का अध्ययन करने के लिए उन्हें पटना भेज दिया। दो-तीन वर्ष में ही अपनी विलक्षण बुद्धि की सहायता से वे अरबी भाषा में व्युत्पन्न हो गए। कुरान के पाठ तथा मौलवी-मुल्लाओं के सहवास से उनके हृदय में एकेश्वरवाद का अंकुर पटना में ही उत्पन्न हो गया था। राजा राम-

मोहन राय को सूफी मत पर भी बड़ी श्रद्धा थी।

१२ वर्ष की अवस्था में पिता के आदेश से राममोहन राय संस्कृत भाषा और तद्विषयक शास्त्रों को पढ़ने के लिए बनारस चले गए। अल्पकाल में ही प्राचीन आर्ष ग्रन्थों का अध्ययन करके वे घर लौट आए। मुसलमानों के सहवास से जिस एकेश्वरवाद का अंकुर इनके हृदय में जम गया था, वह शास्त्र-प्रतिपादित ब्रह्म-ज्ञान से बढ़ने लगा। पिता-पुत्र के विचार एवं मत भिन्न-भिन्न होने के कारण परस्पर वाद-विवाद भी हो जाता था। कभी-कभी दुःखी होकर रामकान्त पुत्र का तिरस्कार भी कर देते थे। १६ वर्ष की आयु में राममोहन ने प्रचलित धर्म के विरुद्ध आवाज उठाई और अपने विचारों को पुस्तक-बद्ध किया। जिस समय समग्र देश पौत्तलिकता के निविड़ अन्धकार से आच्छादित था, पाश्चात्य ज्ञान और सभ्यता का प्रवेश नहीं हुआ था, शिक्षणालयों का सर्वथा अभाव था, उस समय उनके क्रान्तिकारी विचारों ने जनता में एक तहलका-सा मचा दिया। उनके उत्साह और विद्वत्ता की सब ओर चर्चा होने लगी। इस पुस्तक के कारण पिता-पुत्र का विवाद भी बढ़ गया और षोडश-वर्षीय राममोहन को गृह-त्याग करना पड़ा।

भिन्न-भिन्न प्रदेशों में भ्रमण करके राममोहन ने अनेक भाषाएँ सीखीं और उसके द्वारा अनेक धर्मग्रन्थों का अध्ययन किया। इसी बीच बौद्ध धर्म का अनुशीलन करने के लिए उन्होंने तिब्बत की यात्रा की। वहाँ उन्होंने बौद्धमत का खंडन करके 'एकेश्वरवाद' का प्रचार किया। तिब्बत-निवासी अपने धर्म का खंडन सुनकर बड़े क्रोधित हुए, कोमल-हृदय स्त्री-जगत् ने उनके विचारों का विशेष आदर और समर्थन किया। वास्तव में तिब्बत की महिलाओं की सहायता ने ही उस समय राममोहन की रक्षा की। तिब्बत-वासिनी नारियों के स्नेहपूर्ण व्यवहार से नारी-जगत् के प्रति राममोहन को बड़ी श्रद्धा उत्पन्न हो गई थी।

कुछ दिन तक हिमालय के उत्तरवर्ती-प्रदेश में भ्रमण करके वे पुनः घर लौट आए। घर आकर उन्होंने एकाग्रचित्त होकर संस्कृत शास्त्रों की चर्चा प्रारम्भ की। हिन्दू-शास्त्र-सागर को मथकर वे ब्रह्म-ज्ञान के रत्न की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करने लगे। उनकी यह दशा देखकर पिता-पुत्र में पुनः कलह रहने लगा। विवश होकर राममोहन को फिर घर छोड़ना पड़ा। १२-१३ वर्ष तक उन्होंने काशी में निवास करके अपनी ज्ञान-पिपासा शान्त की। इसी समय सन् १८०३ के आस-पास इनके पिता रामकान्त की मृत्यु हो गई। मृत्यु के समय राममोहन पिता के पास ही थे।

प्रायः छोटी-मोटी घटनाएँ ही महापुरुषों के हृदय पर इतना गहरा प्रभाव डालती हैं कि उनका जीवन-उद्देश्य उनमें ही प्रतिबिम्बित हो उठता है। राममोहन राय के समय में प्रतिदिन अनेक नारियों को अपनी इच्छा के विरुद्ध सती-धर्म की प्रथानुसार भस्मसात् होना पड़ता था। किन्तु किसी ने भी उस पाशविक अत्याचार के विरुद्ध आन्दोलन नहीं किया था। उन्हीं दिनों राममोहन राय ने भी अपनी भावज पर इसी अत्याचार का हृदय-विदारक दृश्य देखा था। उसके बड़े भाई जगमोहन राय की मृत्यु पर उनकी पत्नी को बरबस सती कराया गया। जब चिता में अग्नि प्रज्वलित हुई तो ज्वाला-ताप से तप्त होकर वह कोमलांगनी वहाँ से उठ भागी। किन्तु यमदूतों के समान अनेक धर्माधिकारियों ने लम्बे-लम्बे बाँसों की मार से उसे चिता में गिराकर उसकी भी कपाल-क्रिया कर दी। यह देखकर राममोहन राय का हृदय प्रकम्पित हो उठा। उन्होंने मन-ही-मन सती-प्रथा के मूलोच्छेदन की प्रतिज्ञा की। अन्त में उनके उद्योग से सन् १८११ में इस कुप्रथा का प्रतिषेध हुआ।

राजा राममोहन राय को संस्कृत, अरबी और फारसी का पर्याप्त ज्ञान था, फिर भी पाश्चात्य सभ्यता का अनुशीलन तथा पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने के लिए उन्हें अंग्रेजी के ज्ञान की आवश्यकता अनुभव

हुई। अतः उन्होंने अंग्रेजी का साधारण अध्ययन प्रारम्भ कर दिया। मुसलमानों के राज्यत्व-काल में अनेक अत्याचार होते हुए भी सर्वोच्च राज-पद पर हिन्दू अथवा मुसलमान ही नियुक्त होते थे। किन्तु इनके विपरीत ईस्ट इण्डिया कम्पनी के युग में भारतीयों को उच्च सरकारी पदों से वंचित कर दिया गया था। उनके लिए उच्च सरकारी नौकरी सरिश्तेदार की नियत थी। राममोहन ने जान डिगवी साहब के कार्यालय में नौकरी के लिए आवेदन-पत्र भेजा जो स्वीकार कर लिया गया और वे डिगवी साहब के दीवान नियुक्त हुए। डिगवी महोदय उनकी योग्यता और विद्वता से अत्यन्त प्रभावित हुए और १८१४ ई० तक इन्हें अपने साथ रखा। डिगवी साहब के सम्पर्क से इनका अंग्रेजी-ज्ञान बहुत उन्नत हो गया और डिगवी साहब उनके अनन्य मित्र बन गए। उसी वर्ष कुछ विशेष कारणों से बाध्य होकर राममोहन राय ने नौकरी से त्याग-पत्र दे दिया और रघुनाथपुर ग्राम में अपनी छोटी-सी कुटिया बनाकर रहने लगे।

राममोहन राय के पिता ने उनके तीन विवाह किये थे। ९ वर्ष की अवस्था में उनके दो विवाह हो चुके थे, और तीसरा विवाह द्वितीय पत्नी की उपस्थिति में किया गया था। राममोहन राय बहु-विवाह के पक्ष में नहीं थे, किन्तु बाल्यावस्था में ही माता-पिता ने उन्हें जकड़ दिया था। रघुनाथपुर में कुछ दिन निवास करने के पश्चात् उनका मन ऊब गया। भद्र-समाज अथवा कार्य-क्षेत्र के अभाव में ग्राम में अकर्मण्य होकर रहना उन्हें खलने लगा। अन्त में ४२ वर्ष की अवस्था में वे कलकत्ता चले गए।

कलकत्ता जाकर उन्होंने देशोद्धार की भावना से प्रेरित होकर अपना कार्य आरम्भ कर दिया। उनके प्रचार से समस्त बंग-भूमि में आन्दोलन मच गया। धनिकों की बैठक में, भट्टाचार्यों की पाठ-शालाओं में और ग्राम-ग्राम के चंडी-मंडपों में राममोहन राय की चर्चा होने लगी। उनकी क्षमता-गम्भीर मुद्रा और मधुर व्यवहार से आकृष्ट

होकर अनेक सम्भ्रान्त व्यक्ति उनके पास एकत्रित होने लगे।

कलकत्ता में कुछ दिन कार्य करने के पश्चात उन्होंने अनुभव किया कि केवल विकृतताओं से ही उनके उद्देश्य में सफलता नहीं मिल सकती। अतएव उन्होंने पुस्तकों के द्वारा प्रचार-कार्य आरम्भ किया। 'ब्रह्मज्ञान-प्रतिपादक' ग्रन्थों को क्रमशः प्रकाशित कराकर बिना मूल्य वितरित कराया। सर्वप्रथम बँगला में 'वेदान्त-सूत्र का भाष्य' प्रकाशित हुआ। इस पुस्तक से जन-साधारण में उनके सिद्धान्तों का पर्याप्त प्रचार हुआ। इसके अतिरिक्त उन्होंने दो पत्र भी निकाले। जिनमें से एक बँगला में तथा दूसरा फारसी में प्रकाशित होता था।

सन् १८२८ के अगस्त मास में अपने कुछ मित्रों के सहयोग से 'ब्रह्म-समाज' की स्थापना की। तदनन्तर उनके अनुयायियों और शिष्यों ने दिन-रात एक करके बंग-भूमि के कोने-कोने में 'एकेश्वरवाद' का संदेश पहुँचा दिया। अनेक समयोपयोगी सामाजिक प्रश्नों पर विचार करके अंग्रेज शासकों की आँखें खोलीं और वेद-विद्यालय, हिन्दू कालेज आदि शिक्षणालयों की नींव डाली। इसी समय उन्होंने मातृ-भाषा की इतनी उन्नति की कि आज भी वे बँगला-गद्य के सृष्टिकर्ता माने जाते हैं।

सन् १८२१ से १८२६ तक राममोहन राय को अनेक यंत्रणाओं का सामना करना पड़ा। उस समय उनके ज्येष्ठ पुत्र राधाप्रसाद सरिश्तेदार पर गबन का अभियोग लगाया गया था, किन्तु राममोहन राय के प्रभाव तथा प्रयत्न से वह निर्दोष सिद्ध होकर मुक्त हो गया। इसी समय उनकी धर्म-निष्ठा माता का भी स्वर्गवास हो गया और इसके कुछ दिन पश्चात् उनकी द्वितीय पत्नी श्रीमती देवी का भी देहान्त हो गया। पत्नी के वियोग से राममोहन अत्यन्त कातर और खिन्न हो गए थे।

राममोहन राय की विदेश-यात्रा की बलवती इच्छा थी। वे अंग्रेजों को उनके स्वतन्त्र देश में देखकर उचित ज्ञान प्राप्त करना चाहते थे,

किन्तु अर्थाभाव और समयाभाव से विवश थे। उन्हीं दिनों दिल्ली के बादशाह का कम्पनी से कुछ झगड़ा चल रहा था और उसका विचार लन्दन में होने वाला था। बादशाह ने राममोहन राय को राजा की पदवी से विभूषित करके राजदूत बनाकर विलायत भेजने का निश्चय किया। तब प्रचलित प्रथा के अनुसार समुद्र-यात्रा निषिद्ध थी, अतएव समस्त देश में कोहराम मच गया। किन्तु देशवासियों के व्यर्थ प्रतिरोध की उपेक्षा करके राजा राममोहन राय ने १५ नवम्बर सन् १८३० ई० को विलायत के लिए प्रस्थान किया।

इंगलैंड में राजा राममोहन राय का अभूतपूर्व सम्मान हुआ। उनके सम्मानार्थ अनेक सभाएँ एवं प्रीति-भोज किये गए। समाचार-पत्रों में उनके अगाध पांडित्य तथा भद्राकृति की अनेक दिनों तक चर्चा रही। लिवर पोल, मान्चेस्टर, लन्दन प्रभृति नगरों में उनको सादर निमंत्रित किया गया और जनता ने उनका ब्रह्म-विषयक उपदेश सुना। अन्त में कार्याधिक्य के कारण उनका स्वास्थ्य विकृत हो गया और अत्यधिक उपचार करने पर भी कोई लाभ नहीं हुआ तथा २७ सितम्बर, १८३३ को रात्रि को बृस्टल नगर में उनका शरीरान्त हो गया। उनकी मृत्यु से इंगलैंड और भारत में हाहाकार मच गया।

राजा राममोहन राय बुद्धि, हृदय, धर्मभाव, आध्यात्मिकता तथा तर्क आदि गुणों में अद्वितीय थे। उनके चरित्र में कोमलता और कठिनता का अद्भुत सामंजस्य था। उनका विचार था कि तात्कालिक सभ्यता और तत्सम्बन्धी ज्ञान मनुष्य-मात्र की मानसिक, राजनीतिक, सामाजिक और आध्यात्मिक स्वाधीनता पर निर्भर है। यद्यपि उनके द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों का सर्वमान्य होना आवश्यक नहीं है, फिर भी राजा राममोहन राय की महानता में कोई सन्देह नहीं रह सकता।

२

# ईश्वरचन्द्र विद्यासागर

भारत में यों तो बहुत-से शिक्षा-शास्त्री एवं समाज सुधारक हुए हैं, किन्तु ईश्वरचन्द्र विद्यासागर उन मानव-रत्नों में से थे, जिनके नाम से उत्साह, चरित्र से शिक्षा, कार्यों से प्रेरणा और वाणी से शक्ति मिलती है। ईश्वर-चन्द्र विद्यासागर का जीवन एक आदर्श एवं अनुकरणीय जीवन था। जिस महापुरुष ने जन्म से मृत्युपर्यन्त जीवन का प्रत्येक क्षण लोकसेवा एवं परोपकार में व्यतीत किया हो, जिसने स्वयं भूखे रहकर क्षुधा-ग्रस्तों के पेट की ज्वाला बुझाई हो, स्वयं नंगे रहकर नंगों को वस्त्र दिये हों, स्वयं दुःखी होकर दुखियों का कष्ट मिटाया हो, वह महापुरुष सर्वथा वन्दनीय एवं स्तुत्य है। ईश्वरचन्द्र एक साहसी, स्वावलम्बी, कर्त्तव्य-परायण और कर्मशील मानव थे। दीन-हीन समाज की दुरवस्था देख-कर उनका हृदय द्रवित हो जाता था और वे तन-मन-धन से उनकी सेवा में रत हो जाते थे। इसी से आज प्रत्येक भारतीय उनका नाम श्रद्धा के साथ लेता है।

ईश्वरचन्द्र विद्यासागर का जन्म सन् १८२० ई० में बंगाल में मेदिनीपुर जिले के अन्तर्गत वीरसिंह नामक ग्राम में हुआ था। उनके

पिता ठाकुरदास वन्द्योपाध्याय एक निर्धन किन्तु सन्तोषी होने के कारण धनी ब्राह्मण थे। उनके कुल में न्याय, कर्त्तव्य-परायणता, परोपकार, दया, दृढ़ता, परिश्रम तथा स्वावलम्बन आदि गुण परम्परा से ही चले आते थे। इसलिए विद्यासागर में इन समस्त गुणों का प्रचुर मात्रा में विद्यमान होना न्याय-संगत था।

लाड़-चाव में पालन-पोषण होने के कारण बाल्य-काल में ईश्वरचन्द्र विद्यासागर बड़े चंचल और नटखट बन गए थे। पाँच वर्ष की अवस्था में इन्हें ग्रामीण पाठशाला में बिठाया गया। इनकी बुद्धि प्रखर और स्मरण-शक्ति तीव्र थी। अपनी योग्यता और बुद्धि-बल से इन्होंने तीन वर्ष में ही पाठशाला की पढ़ाई समाप्त कर दी। इसके पश्चात् इनके पिता जो कलकत्ता में ८) मासिक पर नौकर थे, इन्हें अपने साथ कलकत्ता ले गए और वहाँ एक पाठशाला में पढ़ने बैठा दिया। तीन मास में ही उस पाठशाला की पढ़ाई भी समाप्त कर दी। तत्पश्चात् १८२६ के जून मास में ९ वर्ष की आयु में इन्हें संस्कृत कालिज में भर्ती कराया गया। वहाँ वे व्याकरण की तीसरी श्रेणी में पढ़ने लगे। अपने परिश्रम और बुद्धि-बल से इन्होंने प्रथम वार्षिक परीक्षा में पाँच रुपये की छात्र-वृत्ति प्राप्त की। वे सदैव इसके लिए प्रयत्नशील रहते थे कि कोई विद्यार्थी उनसे आगे न बढ़ जाय। वे सदा अपनी प्रतिष्ठा और स्वतन्त्रता एक-सी बनाये रखने के लिए जी-जान से चेष्टा करते थे।

ईश्वरचन्द्र का परिवार बहुत बड़ा था और पिता निर्धन थे। कभी-कभी तो समस्त परिवार को उपवास करना पड़ता था। इस पर भी जब कभी विद्यालय से छात्र-वृत्ति मिलती, तब उससे वे निर्धन भाइयों की सहायता करते थे। कोई सहपाठी बीमार होता तो वे तुरन्त उसकी दवा का प्रबन्ध कर देते। स्वयं मोटे-झोटे वस्त्र पहनकर निर्धन साथियों को अच्छे-अच्छे वस्त्र खरीद देते थे। इस प्रकार परोपकार एवं स्वार्थ-त्याग का महान् गुण इनमें बचपन से ही विकसित होने लगा।

ग्यारह वर्ष की अवस्था में ईश्वरचन्द्र ने 'व्याकरण की शिक्षा'

समाप्त करके साहित्य-श्रेणी में प्रवेश किया। साहित्य की वार्षिक परीक्षा में सर्वप्रथम उत्तीर्ण होकर आपने छात्र-वृत्ति प्राप्त की। आपने अपनी असाधारण योग्यता से सब को चकित कर दिया था। साहित्य की शिक्षा सम्पूर्ण करके १५ वर्ष की आयु में वे अलंकार श्रेणी में पढ़ने लगे और एक वर्ष में ही अलंकार के ग्रन्थों को समाप्त कर डाला। इसके उपरान्त केवल ६ मास में धर्मशास्त्र की परीक्षा पास करके वेदान्त पढ़ने लगे।

घर की दशा अच्छी न होने के कारण भर-पेट भोजन न मिलने पर भी, और घर के चौका-बरतन आदि सब कार्य स्वयं करते रहने पर भी ईश्वरचन्द्र कठिन परिश्रम द्वारा प्रत्येक श्रेणी में सर्वप्रथम उत्तीर्ण होते थे। न्याय और दर्शन की परीक्षा में भी वे प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हुए और उन्हें १००) रुपये का पुरस्कार मिला।

अनेक कष्टों और विघ्नों को पार करते हुए विद्यासागर ने प्रत्येक विषय में पूर्ण सफलता प्राप्त की। भिन्न-भिन्न विषयों में कोई अद्वितीय हो सकता है, परन्तु प्रत्येक विषय में अद्वितीय कोई विरला ही मनुष्य होता है। १८४१ में २१ वर्ष की आयु में उनके कालिज की ओर से उन्हें 'विद्यासागर' की उपाधि दी गई।

१८४१ में कालिज की शिक्षा समाप्त होते ही मार्शल साहब ने आपको फोर्ट विलियम कालिज में अध्यापक के पद पर नियुक्त किया। नौकरी के साथ ही आपने हिन्दी भी पढ़ना आरम्भ किया। इसी समय विद्यासागर ने अपने एक मित्र को पढ़ाने के लिए एक दिन में एक व्याकरण बनाया, जो बाद में 'उपक्रमणिका' नाम से प्रकाशित हुआ और आज तक सब जगह पढ़ाया जाता है।

सन् १८४६ ई० में इन्होंने लार्ड हार्डिंग से कहकर समस्त बंगाल में बँगला के एक सौ स्कूल खुलवाये, जिनमें बच्चे मातृ भाषा की शिक्षा पाने लगे। इन स्कूलों में शिक्षकों के प्रबन्ध का कार्य भी आप ही करते थे। इन सब कार्यों से समय बचाकर आप दीन-दुःखियों की

सेवा-सहायता करते और इससे भी समय बचाकर फोर्ट विलियम के साहबों को बँगला, हिन्दी और संस्कृत पढ़ाते थे।

उसके कुछ दिनों पश्चात् कालिज की कार्य-प्रणाली में मतभेद हो जाने के कारण आपने नौकरी छोड़ दी। बड़े-बड़े अधिकारियों के समझाने पर भी आप अपने विचार से न हटे। जब लोगों ने पूछा कि नौकरी छोड़कर क्या करोगे? तब आपने उत्तर दिया—'आलू-परवल बेचूँगा, मोदी की दुकान करूँगा, किन्तु जिस नौकरी में प्रतिष्ठा नहीं, उसे नहीं करूँगा।' विद्यासागर जितने विनम्र और उदार थे उतने ही स्वावलम्बी और स्वाभिमानी भी थे।

नौकरी छोड़ने पर कुछ दिनों तक बेकार रहे। किन्तु शीघ्र ही कतिपय मित्रों ने आग्रह करके विद्यासागर को संस्कृत कालिज में साहित्य-श्रेणी का अध्यापक बनाया। इस पद पर रहकर आपने प्राचीन अप्राप्य संस्कृत ग्रन्थों का जीर्णोद्धार किया। आपने घोर आन्दोलन करके शूद्रों का संस्कृत कालिज में प्रवेश कराया। निर्धन विद्यार्थियों को निःशुल्क पढ़ाने की प्रथा जारी की। संस्कृत कालिज की अंग्रेजी शिक्षा सबके लिए अनिवार्य कर दी। बहुतेरे नार्मल स्कूल खोले गए, जिनके निरीक्षण का भार भी आपको सौंपा गया।

१८५७ ई० में कलकत्ता यूनिवर्सिटी की यथार्थ नींव पड़ी। उस समय आप चार विषयों के परीक्षक बनाये गए। परीक्षा-समिति के सदस्य को ६००) वार्षिक मिलते थे। दूसरे वर्ष ही आपने परीक्षक होना अस्वीकार कर दिया। आप अपने निश्चय पर सदैव दृढ़ रहते थे। संसार की कोई भी शक्ति आपको कर्त्तव्य-परायणता से विचलित नहीं कर सकती थी। एक बार कालिज के डायरेक्टर यंग साहब ने आप से किसी स्कूल की एक झूठी रिपोर्ट लिखने को कहा। आपने ऐसा करने से तुरन्त इन्कार कर दिया। अधिक कहा-सुनी होने पर आपने तुरन्त नौकरी छोड़ दी।

सन् १८७३ में बंगाल में घोर अकाल पड़ा। उस समय आपने

अकाल-पीड़ितों की सहायता में दिन-रात एक कर दिया। स्वयं अपने ग्राम में अन्न-भंडार खोलकर हजारों मनुष्यों के प्राण बचाये। अछूतों, अलम्तों और दुखियों की आप विशेष रूप से सेवा करते थे।

एक दिन प्रातःकाल एक मेहतर ने आकर कहा कि मेरी स्त्री को हैजा हो गया है, यदि आप सहायता न करेंगे तो वह न बचेगी। ईश्वरचन्द्र तुरन्त दवा-दारू लेकर उसके घर पहुँच गए। दिन-भर उसके पास बैठे दवा-दारू करते रहे। सन्ध्या को जब वह कुछ स्वस्थ हुई, तब आप घर आये और भोजन किया।

विद्यासागर की लोक-सेवा और दानशीलता की अनेक कहानियाँ प्रचलित हैं। वे अपना सर्वस्व लुटाकर भी दीन-दुखियों की सहायता करते थे। कलकत्ता और बंगाल के असंख्य दीन-दुखियों को १), २), ३), ४), ५) मासिक की सहायता आपकी ओर से बहुत दिनों तक मिलती रही। किसी का दुःख सुनते ही उनके सरल तथा उदार हृदय में दया का सागर उमड़ पड़ता था। मनुष्य-मात्र के लिए उनकी दया का द्वार खुला रहता था।

विद्यासागर ने समाज-सुधार के लिए भी उल्लेखनीय कार्य किये। विधवाओं की दुःखभरी अवस्था देखकर उनका हृदय द्रवित हो उठा। उन्होंने बड़े-बड़े पण्डितों से शास्त्रार्थ करके विधवा-विवाह को शास्त्रानुकूल सिद्ध किया। इस विषय में दो पुस्तकें प्रकाशित कराईं, जिनमें विधवा-विवाह को शास्त्र के अनुकूल सिद्ध किया गया था। आपने अटूट प्रयत्न करके १८५७ में कौंसिल में विधवा-विवाह का कानून भी पास कराया। आपके सद्प्रयत्नों से जगह-जगह विधवा-विवाह होने लगे। इसके अतिरिक्त आपने स्त्री-शिक्षा पर विशेष जोर दिया।

ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने साहित्य की भी पर्याप्त सेवा की है। भारतेन्दु की भाँति आप प्रचलित बँगला-गद्य के जन्मदाता माने जाते हैं। उनकी पहली हस्तलिखित पुस्तक 'वासुदेव-चरित' है। उनका 'सीता-वनवास' आज तक हाईस्कूलों में पढ़ाया जाता है। उन्होंने अंग्रेजी

भाषा में ५ और बंगला में ३० पुस्तकें लिखी हैं। १८३० में उन्होंने 'संवाद-प्रभाकर' नाम से एक बंगला-पत्र निकाला, जो उस समय के सर्वश्रेष्ठ पत्रों में था। 'सोम प्रकाश' नाम से आपने एक बंगला का एक और मासिक पत्र भी निकाला था। विद्यासागर अपने अन्तिम समय तक शिक्षा और विद्या का प्रचार करते रहे।

सन् १८९५ में विद्यासागर की धर्म-पत्नी बीमार हो गईं। बहुत चिकित्सा कराने पर भी उन्हें लाभ न हुआ और एक दिन आत्मीय जनों की सेवा और आदर को भुलाकर वे सदा के लिए विदा हो गईं। विद्यासागर पत्नी के वियोग में अति व्याकुल हुए।

उसी दिन से उन्हें भी रोग ने आ घेरा। वे स्वास्थ्य सुधारने की इच्छा से करामडाँगे के विश्राम-भवन में भी रहने के लिए गये, परन्तु लाभ होता न देखकर पुनः कलकत्ता आकर चिकित्सा कराने लगे। किन्तु कोई लाभ न हुआ और रोग असाध्य होता गया। अन्त में बंगला सन् १२९८ के १३ श्रावण की रात्रि को १२ बजे आपका शरीरान्त हो गया। समस्त देश में आपकी मृत्यु से शोक की लहर दौड़ गई। जगह-जगह शोक-सभाएं करके श्रद्धांजलियाँ अर्पित की गईं।

ईश्वरचन्द्र विद्यासागर वास्तव में भारत के एक अनुपम रत्न थे। आपने अपनी दानशीलता, कर्त्तव्य-परायणता, स्वातन्त्र्य-प्रियता एवं क्रिया-शीलता का जो आदर्श उपस्थित किया है, वह सदैव तरुण भारत के युवकों का मार्ग प्रशस्त करता रहेगा।

३

# महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती

स्वामी दयानन्द सरस्वती अपने समय के सबसे बड़े सुधारकों में थे। उनका प्रादुर्भाव ऐसे समय में हुआ जब हिन्दू-समाज नैतिक-परतन्त्रता तथा सामाजिक बंधनों के भार से दबकर मनुष्यत्व के उच्च आसन से गिर रहा था, देश में ऐसे अगणित मत-मतांतरों एवं सम्प्रदायों का जन्म हो चुका था, जिनकी पूजा में देव का स्थान स्त्रियों ने और पूजा का दुराचार ने ले लिया था। नाम के लिए परमात्मा अब भी था, किन्तु तथाकथित पुजारियों ने उसे मन्दिर के एक कोने में छिपा दिया था, जहाँ से उसके दर्शन भी दुर्लभ थे। अंधकार और अनाचार की उस भयानक निशा में आर्य लोग अपनी वैदिक सम्पत्ति को खो चुके थे। आलस्य, पतन और अनाचार के उस अन्धकार में स्वामी दयानन्द सरस्वती ज्योति-स्तूप बनकर भारत के राज-मार्ग पर चमके और उन्होंने मनुष्यत्व के आसन से च्युत आर्य जाति को फिर से उसके अतीत आसन पर आसीन किया और एकता तथा एकेश्वरवाद का संदेश देकर फिर से उसमें वीर्य, शौर्य तथा पराक्रम की लहर दौड़ाई।

स्वामी दयानन्द सरस्वती का जन्म संवत् १८८१ (सन् १८२४) में

मौरवी राज्य के टंकारा नाम ग्राम में हुआ था। उसके पिता कृष्ण जी औदीच्य ब्राह्मण थे और लेन-देन का कार्य करते थे। दयानन्द का बचपन का नाम मूलशंकर था। ५ वर्ष की अवस्था से ही मूलशंकर को देवनागरी पढ़ाई गई और बहुत-से मंत्र तथा श्लोक कंठस्थ करा दिये गए। आठ वर्ष की अवस्था में आपका यज्ञोपवीत-संस्कार हो गया। आपके पिता कृष्ण जी शैव मत के अनुयायी थे और शिव की पूजा बड़ी निष्ठा तथा ठाट-बाट से किया करते थे। मूलशंकर भी पिता के इन कार्यों में उनके साथ रहते थे।

माघ बदी चतुर्दशी सं० १८६४ को शिवरात्रि का व्रत आया और पिता के साथ मूलशंकर ने भी बड़ी श्रद्धा के साथ उपवास रखा। रात्रि को शिव-मन्दिर में जागरण हुआ। मूल जी भी उसमें सम्मिलित थे। आधी रात्रि का समय हुआ तो पुजारी तथा उपासक सभी ऊँघने लगे; मूलशंकर को नींद कहाँ? वे शिव की अनन्य पूजा में रत थे। उसी समय उन्होंने ऐसी घटना देखी जिसने उनके हृदय में क्रांतिकारी विचारों का तूफान खड़ा कर दिया। शिव भगवान् की मूर्ति के पीछे से कुछ चूहे निकले और सीदा-भोग खाने के लिये मूर्ति पर चढ़ बैठे। बालक मूलशंकर अवाक् रह गया। त्रिलोकी का स्वामी चूहों से मार खा रहा है? क्या मेरा देवता इतना निर्बल और लज्जाहीन है? जिस व्यक्ति का, जिस जाति का देवता ऐसा हो, वह स्वयं कैसी होगी? मूलशंकर के हृदय में इन्हीं विचारों का बवंडर उठ खड़ा हुआ। वास्तविक शिव कोई दूसरा ही है। मैं उसकी खोज करूँगा। ऐसा उन्होंने मन-ही-मन निश्चय कर लिया।

मूलशंकर की अवस्था अब चौदह वर्ष की थी। इसी समय दो ऐसी घटनाएँ उनके सम्मुख हुईं, जिन्होंने उनके जीवन की धारा को पलट दिया। उनकी बहन को हैजा हो गया। बहुतेरा उपचार करने पर भी वह न बची और उसकी मृत्यु हो गई। उनके सामने उनके परिवार में यह प्रथम मृत्यु थी। उन्होंने सोचा—'मुझे भी एक दिन इसी

प्रकार मरना है—सबको मरना है—मैं ऐसी औषधि की खोज करूँगा, जो मुझे मृत्यु से बचा ले।' अगले वर्ष इसी व्याधि से उनके चाचा की मृत्यु हो गई। मूलशंकर ने उन्हें भी जाते देखा। इस समय उनकी अवस्था १६ वर्ष की थी। उन्होंने विलम्ब करना उचित न समझा और मृत्यु से बचने की औषधि खोजने के लिए घर छोड़ने का निश्चय कर लिया।

इधर उनके पिता उनके विवाह की तैयारियों में संलग्न थे। एक उत्तम कुल में सुन्दर वधू ढूँढ़ी गई, मित्रों ने मूलशंकर को बधाइयाँ दीं, किन्तु मूलशंकर किसी दूसरी चिन्ता में घुल रहे थे। वे विवाह के बन्धन से बचकर कहीं दूर भाग जाना चाहते थे। जीर्ण-शीर्ण समाज को अंधकार के गर्त्त से निकालकर उसकी पुनः व्यवस्था करने वाले महापुरुष को सांसारिक बन्धनों में कौन बाँध सकता है। अतः संवत् १६०२ में २२ वर्ष का मूलशंकर एक रात्रि को चुपचाप घर से निकल गया। विवाह के उबटन का स्थान भस्म ने ले लिया और वधू के स्थान पर वे मृत्यु से बचने वाले सच्चे योगी गुरू की खोज में लगे थे।

घर से निकलकर वे किसी योगी गुरू की खोज में इधर-उधर भटकने लगे। इसी बीच पिता ने उन्हें एक बार खोजकर पकड़वा मँगाया, किन्तु वे पुनः घर से निकल गए और अहमदाबाद होते हुए बड़ौदा जा पहुँचे। वहाँ वे एक मठ में जाकर अद्वैतवाद के अनुयायी बन गए। यहाँ इनका नाम 'शुद्ध चैतन्य' रखा गया। शुद्ध चैतन्य को उनकी अभीष्ट वस्तु न मिली, अतः वे अपनी यात्रा में आगे बढ़े और नर्मदा के किनारे चाणोद कल्याणी नामक स्थान पर जा पहुँचे। वहाँ पूर्णानन्द सरस्वती ने उन्हें संन्यास की दीक्षा दी और इनका नाम 'दयानन्द सरस्वती' रखा।

दयानन्द सरस्वती को अभी अभीष्ट गुरु नहीं मिल पाया था, वे पुनः अहमदाबाद लौटे और वहाँ के दुग्धेश्वर मन्दिर में शिवानन्द गिरी और ज्वालानन्द पुरी नाम के योगियों से योग-विद्या सीखी। किन्तु उनके निर्दिष्ट लक्ष्य की प्राप्ति अभी नहीं हुई थी। वहाँ से

चलकर वे नर्मदा तट, आबू पर्वत और अन्य स्थानों में घूमते-फिरते संवत् १९११ में हरिद्वार आये। वहाँ चंडी के वन में तपस्या की। पुनः ऋषीकेश होते हुए बद्रीनारायण पहुँचे; किन्तु उन्हें उस प्रदेश में भी कोई सच्चा गुरू न मिल पाया। अन्त में वे निरन्तर तीन वर्ष तक जंगलों और पहाड़ों में दारुण कष्ट झेलते हुए संवत् १९१७ में स्वामी विरजानन्द जी की सेवा में मथुरा जा पहुँचे। स्वामी विरजानन्द प्रज्ञा-चक्षु थे और उनके अगाध पाण्डित्य की चारों ओर धूम थी। दयानन्द ने इन्हीं को अपना गुरू बनाकर उनसे सब शास्त्र पढ़े। उस समय दयानन्द की अवस्था ३५ वर्ष के लगभग थी।

लगभग २॥ वर्ष तक आप वेद-शास्त्रों का अध्ययन करते रहे। गुरू जी ने भी शिष्य की प्रतिभा और योग्यता पर मुग्ध होकर उससे कुछ छिपा न रखा। पढ़ाई समाप्त होने पर दयानन्द ने गुरू जी से भ्रमण करने की आज्ञा माँगी। गुरू ने आशीर्वाद दिया—'जाओ पुत्र तुम्हारी विद्या सफल होवे, तुम भारत का अंधकार दूर करने में सफल होओ।' गुरू का आशीर्वाद साथ लेकर स्वामी दयानन्द कल्याण-यात्रा को चल दिए।

अपनी इस यात्रा में वे देश के नगर-नगरान्तरों का भ्रमण करते, पथ-भ्रष्टों को मार्ग दिखाते, आर्तों का त्राण करते, वेदों का प्रवचन सुनाते, गो-वध बन्द कराने का प्रयत्न करते हुए फाल्गुण सु० ७ संवत् १९२३ को हरिद्वार कुम्भ के मेले में पधारे और वहाँ के अमित जन-समुदाय के मध्य अपनी 'पाखंड-खंडिनी पताका' गाड़कर बैठ गए। यहाँ उन्होंने व्याख्यानों और शास्त्रार्थों की वह अटूट धारा बहाई, जिसने जाह्नवी के साथ मिलकर जनता के भ्रम-मल को धो डाला और उन्हें एक बार फिर वेदों का अमर संदेश दिया।

मेले के पश्चात् कर्णवास; अनूप शहर, फर्रुखाबाद, कानपुर आदि नगरों का पर्यटन करते तथा वैदिक धर्म की पताका फहराते हुए संवत् १९२६ में वे काशी पहुँचे। वहाँ उन्होंने २८ ख्याति-प्राप्त पण्डितों से शास्त्रार्थ करके उन्हें परास्त किया, और अठारह पुराण, मूर्ति-पूजा,

शैव, शाक्ति, तंत्र-ग्रन्थ, मदिरा, व्यभिचार, चोरी और छल-कपट आदि की धज्जियाँ उड़ाते हुए अपने वास्तविक सुधारक रूप का जनता को परिचय दिया। १२ जून सन् १८७४ को 'सत्यार्थ प्रकाश' की रचना आरम्भ की, जिसकी प्रथम प्रति १८७५ में प्रकाशित हुई। वहाँ से वे प्रयाग, जबलपुर, नासिक, पंचवटी आदि होते हुए बम्बई आये और वहाँ वैदिक धर्म का प्रचार किया।

३१ दिसम्बर, १८७४ को स्वामी जी ने राजकोट में प्रथम 'आर्य-समाज' स्थापित किया और उसके १० नियम बनाये। १८ जनवरी, १८७५ में अहमदाबाद आकर आर्यसमाज की स्थापना की और १० अप्रैल, १८७५ को बम्बई में आर्यसमाज की स्थापना कर समाजों के २८ वैधानिक नियम बनाये।

जनवरी १८७७ में लार्ड लिटन ने दिल्ली में एक बड़ा दरबार किया, जिसमें स्वामी जी को भी आमन्त्रित किया गया था। वहाँ आपने बाबू केशवचन्द्र सेन, नवीनचन्द्र राय तथा मुन्शी कन्हैयालाल आदि दूसरे सुधारकों से विचार-विनिमय किया। वहाँ से चाँदापुर मेले में शास्त्रार्थ करते हुए ३१ मार्च, १८७७ को लुधियाना और १९ अप्रैल को लाहौर गए। २४ जून को लाहौर में आर्यसमाज की स्थापना की और २५ अगस्त, १८७८ को अमृतसर में आर्यसमाज बनाया।

इस प्रकार देश में फैले पाखण्ड तथा अविद्या के अंधकार को दूर करके स्वामी जी ने सर्वत्र वैदिक धर्म का प्रकाश फैला दिया। २९ मई, सन् १८८३ को आप अजमेर गए और वहाँ उपदेश देकर जोधपुर पहुँच गए। जोधपुर के महाराज यशवन्त सिंह ने आपका स्वागत किया और महाराजा के विशाल आँगन में ही स्वामी जी ने व्याख्यानों की धूम मचा दी और नगर की जनता को सद्धर्म के दर्शन कराये।

महाराज जोधपुर स्वामी जी के परम भक्त थे। स्वामी जी उनके महल में भी उपदेशार्थ जाते थे। एक दिन स्वामी जी जब महाराज से मिलने गए तब वहाँ उनकी वेश्या नन्हींजान भी उपस्थित थी। महाराज ने उसे

छिपाने का भी प्रयत्न किया, किन्तु स्वामी जी ने उसे देख ही लिया। बस फिर क्या था—उन्होंने महाराज को फटकारा—'राजन्! राजा सिंह होते हैं, वे कुतियों के पीछे नहीं जाते।' इससे जहाँ महाराणा को लज्जा और अनुताप हुआ, वहाँ वेश्या क्रोध में पागल हो गई और उसने स्वामी जी के प्राण लेने की ठान ली।

२९ सितम्बर की रात्रि को दैनिक कार्यों से निश्चिन्त होकर स्वामी जी दूध पीकर सो गए, किन्तु पेट में दर्द हुआ और तीन उल्टियाँ हुईं। क्लेश बढ़ गया। प्रातःकाल उठने पर फिर वमन हुआ और दस्त आरम्भ हो गए। स्वामी जी को संदेह हो गया कि किसी ने विष दे दिया है। उन्होंने नेती-धोती आदि अनेक यौगिक उपचार किये, किन्तु जहाँ पहले कई बार वे खाए विष का उपचार करने में सफल हुए थे, अब की बार न हुए। १५ अक्तूबर को रोग अधिक बढ़ जाने पर आबू गए, वहाँ भी शांति नहीं मिली। २२ अक्तूबर को अजमेर आ गए। कई डॉक्टरों का उपचार हुआ, किन्तु लाभ न हुआ। अन्त में ३० अक्तूबर को दीपमालिका के दिन सन्ध्या के ६ बजे स्वामी जी प्रसन्न-मुख होकर सबको आशीर्वाद देते हुए 'ईश्वर तेरी इच्छा पूर्ण हो' कहकर इस संसार से विदा हो गए।

भारत पर स्वामी जी के महान् ऋण हैं। अपने छोटे-से जीवन में उन्होंने देश के एक कोने से दूसरे कोने तक फैले हुए 'पाखण्ड एवं कुप्रथाओं' को दूर करके 'वैदिक धर्म' का नाद बजाया। 'गो-वध' बंद कराने का प्रयत्न किया। 'बाल-विवाह' की प्रथा का विरोध करके लोगों को 'ब्रह्मचर्य' का महत्त्व बताया। स्थान-स्थान पर 'गुरुकुल' खुलवाकर उनमें 'संस्कृत शिक्षा' के साथ-साथ ब्रह्मचर्य-पालन पर बल दिया। 'विधवा-विवाह' की प्रतिष्ठा की और 'मद्य-मांसादि का घोर विरोध' किया। स्त्रियों को 'स्वतन्त्रता' दिलाई, 'राजनीतिक स्वतन्त्रता' पर बल दिया और हर प्रकार से आर्य जाति को फिर से उसके अतीत गौरव पर स्थापित करने का प्रयत्न किया।

४

# अमर शहीद स्वामी श्रद्धानन्द

स्वामी श्रद्धानन्द धार्मिक एवं राजनीतिक दोनों ही क्षेत्रों में समान रूप से देश-सेवा करने वाले कर्मठ संन्यासी थे। स्वामी जी की महानता उनके अपूर्व चरित्र-बल एवं महान् कर्म-शौर्य पर निर्भर थी। दिल्ली-जैसे विकट स्थान को अपना कर्म-क्षेत्र चुनकर गिरी और पिछड़ी हुई जनता में राष्ट्रीयता का अंकुर उत्पन्न करने का आपने अद्‌भुत साहस किया था, और अपने कार्य में एक सीमा तक सफलता भी प्राप्त की थी। आप एक उद्‌भट लेखक तथा सफल व्याख्याता भी थे। राष्ट्र-निर्माण के कार्य में जहाँ आपके प्रभावशाली व्यक्तित्व तथा अटूट परिश्रम का योग था, वहाँ आपकी लौह-लेखनी ने भी कुछ कम चमत्कार न दिखाया था।

स्वामी श्रद्धानन्द का जन्म पंजाब में तलवन नामक स्थान पर सन् १८५६ में हुआ था। उनके पिता ला० नानकचन्द शहर-कोतवाल थे। बाद में वे पुलिस-इन्सपेक्टर बनकर बरेली चले गए। स्वामी जी का बचपन का नाम 'मुन्शीराम' था, और संन्यास न लेने तक आप मुन्शीराम ही कहलाये।

बरेली में स्थायी नियुक्ति हो जाने पर ला० नानकचन्द ने अपने

परिवार को बरेली ही बुलवा लिया। बालक मुन्शीराम की प्रारम्भिक शिक्षा बरेली में ही हुई। उन दिनों पुलिस-विभाग में उर्दू-फारसी का बोलबाला था, अतः आपको भी फारसी ही पढ़नी पड़ी। कुछ दिनों के पश्चात् ला० नानकचन्द बरेली से बदलकर बनारस चले गए। बनारस में मुन्शीराम को एक हिन्दी-स्कूल में भर्ती कराया गया। तत्पश्चात् म्योर सेण्ट्रल कालिज इलाहाबाद में आपकी शिक्षा हुई।

संवत् १९३७ में मुन्शीराम जी लाहौर आकर कानूनी शिक्षा प्राप्त करने लगे। शिक्षा समाप्त करके जालन्धर में वकालत प्रारम्भ कर दी। लाहौर में रहते समय कई सभा-संस्थाओं से आपका सम्पर्क हो गया था। आर्य समाज का आप पर विशेष प्रभाव पड़ा। इसी बीच आपने आर्य समाज के समस्त ग्रन्थों का अध्ययन कर लिया था। परिणाम-स्वरूप आर्य समाज के प्रति आपकी अटूट श्रद्धा हो गई और आप आर्य समाज के कार्यों में भाग लेने लगे। उन्हीं दिनों महात्मा हंसराज ने लाहौर में ऋषि दयानन्द की स्मृति में 'डी० ए० वी० कालिज' की स्थापना की थी, किन्तु उसके द्वारा संस्कृत में वैदिक सिद्धान्तों का शिक्षण सम्भव न हो सका। अतः मुन्शीराम जी ने किसी ऐसे 'गुरुकुल' की स्थापना का दृढ़ संकल्प किया, जिसके द्वारा मातृ-भाषा में वैदिक सिद्धान्तों की शिक्षा दी जा सके।

इसी बीच मुन्शीराम जी का विवाह हो चुका था। किन्तु गृहस्थ जीवन में आपकी विशेष रुचि न थी। आप प्रायः गृहस्थ के जंजाल से निकलने की सोचते रहते थे। ३१ अगस्त, १८९१ को आपकी पत्नी का देहान्त हो गया। अब आपने पूर्ण रूप से सामाजिक कार्यों में भाग लेना प्रारम्भ कर दिया और ऋषि दयानन्द के वैदिक-आदेश को पूरा करने का दृढ़ संकल्प कर लिया। संवत् १९५२ में आप 'पंजाब आर्य-प्रतिनिधि-सभा' के प्रधान बनाये गए। आपने आर्य समाज में फैले हुए विरोध एवं निर्बलताओं को दूर करने में दिन-रात एक कर दिया।

उन दिनों सरकारी शिक्षणालयों में पाश्चात्य भाषा और संस्कृति का बाहुल्य था। मुन्शीराम जी ने देश के युवकों में विशुद्ध भारतीयता व राष्ट्रीयता के विचारों को उत्पन्न करने के लिए संवत् १९५६ में 'गुरुकुल कांगड़ी' की स्थापना की। यह पहला शिक्षणालय था जिसमें भारतीय संस्कृति एवं शिक्षा-पद्धति के अनुसार मातृ-भाषा में 'वैदिक-सिद्धान्तों की शिक्षा दी जाती थी। ८ अप्रैल, १९१५ को महात्मा गांधी ने गुरुकुल का निरीक्षण किया, गुरुकुल की ओर से गाँधी जी को मान-पत्र दिया गया था। मुन्शीराम जी ने निरंतर १५ वर्ष तक गुरुकुल की सेवा की और १९१७ में संन्यास लेकर 'स्वामी श्रद्धानन्द' के नाम से प्रख्यात हुए।

इसके अतिरिक्त सार्वजनिक जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में स्वामी जी की सेवाएँ अमूल्य हैं। देश-उद्धार तथा जाति-सुधार का कोई भी क्षेत्र ऐसा नहीं, जिसमें आपने योग न दिया हो। राजनीति, समाज-सुधार, हिन्दी भाषा, अनाथ-रक्षा, अकाल, बाढ़, अछूतोद्धार आदि सभी कार्यों में आप सबसे आगे रहते थे। १९१९ की राजनीतिक हलचलों में आपने सक्रिय भाग लिया। उन दिनों 'अनाथ' दिल्ली को केवल आपका ही सहारा था। दिल्ली में सरकारी दमन-चक्र जोरों से चल रहा था, कांग्रेस की ओर से जुलूस निकाले गए। जुलूस का नेतृत्व स्वयं स्वामी जी कर रहे थे। जब घण्टाघर के सामने जुलूस पहुँचा, तो गोरे सिपाही फायर करने को तैयार थे। स्वामी जी ने आगे बढ़कर छाती खोल दी और सिपाहियों को ललकारा—'लो चलाओ गोलियाँ' आपकी यह वीरता और साहस देखकर सिपाही अवाक् रह गए। वास्तव में स्वामी जी एक साहसी और सच्चे वीर पुरुष थे।

'अमृतसर-कांग्रेस' में स्वागताध्यक्ष के पद से आपने हिन्दी में वह जोरदार भाषण दिया कि जिसने जनता की आँखें खोल दीं। कांग्रेस के मंच से वेद-मंत्रों का उच्चारण करते हुए, 'ब्रह्मचर्य, नैतिकता, चरित्र-बल और अस्पृश्यता-निवारण' आदि का उपदेश देना आपका ही काम

था। 'पंजाब में हिन्दी-प्रचार' के जन्मदाता भी आप ही थे। वास्तव में स्वामी जी की सेवाएँ सर्वतोमुखी थीं। जिनका विशद् वर्णन करने के लिए यहाँ स्थान नहीं है।

स्वामी जी का जन्म 'समाज-सुधार' के लिए ही हुआ था और समाज की वेदी पर ही उन्होंने अपने जीवन की आहुति चढ़ा दी। महापुरुषों के जीवन का अन्त इसी प्रकार हुआ करता है। इतिहास इस बात का साक्षी है।

एक दिन दिल्ली में आपके मकान पर अब्दुल रसीद नामक एक मुसलमान नवयुवक ने आपको गोली मार दी, यह वह मार्ग था जो संसार के प्रत्येक महापुरुष के लिए प्रशस्त किया गया है। उनके अन्तिम क्षणों में भी हमें स्वामी जी की उदारता का सुन्दर परिचय मिलता है—जब उन्होंने अपने वधिक को ठण्डा पानी पिलाकर उसकी प्यास बुझाई और अन्त में उसकी प्यास बुझाने के लिए अपना रक्त तक उसे प्रदान कर दिया। स्वामी जी की मृत्यु पर देश-व्यापी शोक मनाया गया और आर्य युवकों ने सजल नयनों से अपने प्यारे नेता को श्रद्धांजलियाँ अर्पित कीं।

५

# महामना पण्डित मदनमोहन मालवीय

जिन मनुष्यों के मुख-मंडल पर सौम्यता, हृदय में दया, वाणी में अमृत और कार्यों में परोपकार की भावना रहती है, उन्हें सारा संसार नमस्कार करता है। मालवीय जी के व्यक्तित्व में इन समस्त गुणों का अद्भुत सामंजस्य था। वे प्राचीन हिन्दू सभ्यता के पुजारी तथा अतीत के प्रेमी थे, फिर भी वे नवीन का निर्माण करना चाहते थे। उनका उज्ज्वल चरित्र, दिव्य वाणी तथा अगाध पांडित्य सदैव वंदनीय था। उसके लिए हिंदुओं के हृदय में जो श्रद्धा एवं आदर है, वह शायद ही किसी अन्य नेता के लिए हो।

पं० मदनमोहन मालवीय का जन्म २५ दिसम्बर, १८६१ को इलाहाबाद में हुआ। आपके पूर्वज मालवा के रहने वाले थे, जो बाद में इलाहाबाद में आकर बस गए। मालवीय जी के पिता पं० ब्रजलाल संस्कृत के उद्भट विद्वान् थे। उनकी माता श्रीमती मुन्नादेवी बड़ी सुशीला एवं धर्म-परायणा नारी थीं। योग्य माता-पिता की संतान भी योग्य हुआ करती है। माता-पिता के संस्कारों की छाप मालवीय जी के

जीवन पर अमिट रूप से पड़ी। उनकी प्रारम्भिक शिक्षा प्रयाग में ही हुई। १८७९ में कलकत्ता से मैट्रिक की परीक्षा पास करके उन्होंने १८८४ में म्योर कालिज इलाहाबाद से बी० ए० किया, और तत्पश्चात् गवर्नमेंट स्कूल में ५०) मासिक पर अध्यापक हो गए।

अपने विद्यार्थी-जीवन में ही आप सार्वजनिक कार्यों में भाग लेने लगे थे। कालिज में पढ़ते समय अपने कुछ मित्रों की सहायता से आपने प्रयाग के महाजनी टोले में हिन्दू-समाज की स्थापना की थी। अपने स्वार्थ की ओर आपका इतना ध्यान न था, जितना लोक-सेवा की ओर।

सन् १८८६ में आप कलकत्ता में कांग्रेस के द्वितीय अधिवेशन में सम्मिलित हुए। मालवीय जी में उत्साह भी था और विद्या भी थी। उठे, और एक व्याख्यान दे डाला। जब तक आपने भाषण दिया, श्रोता मन्त्र-मुग्ध बने रहे; जब बैठे तो करतल-ध्वनि से पंडाल गूंज उठा। उस अधिवेशन में कालाकाँकर के राजा रामपाल सिंह भी विद्यमान थे। मालवीय जी के भाषण पर वे मुग्ध हो गए और उन्हें उन्होंने २००) मासिक पर अपने साप्ताहिक पत्र 'हिन्दुस्तान' का सम्पादक नियुक्त कर दिया। मालवीय जी ढाई वरस (१८८७–८९) तक उक्त पत्र का सम्पादन करते रहे।

१८९१ में मालवीय जी ने वकालत की परीक्षा पास की और थोड़े काल में ही अपनी योग्यता तथा वाक्पटुता से पर्याप्त धन कमाया। वकालत करते हुए भी आप लोक-सेवा के कार्यों में बराबर दिलचस्पी लेते रहे।

इसके अनन्तर कांग्रेस के जो अधिवेशन मद्रास, बम्बई, कलकत्ता, नागपुर आदि में हुए उनमें भी आप बराबर अपने विचार प्रकट करते रहे। देश-सेवा के कारण मालवीय जी पर्याप्त प्रसिद्ध हो चुके थे, इसलिए इन्हें 'प्रान्तीय कौंसिल' का सदस्य बनने में कोई कठिनाई नहीं हुई। १९०२ से १९१२ तक आप प्रांतीय कौंसिल के सदस्य रहे।

देशवासियों ने भी आपके गुणों को पहचानकर आपका यथेष्ट सम्मान किया। १६०६, १६१२ तथा १६३३ में इन्हें अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी का प्रधान चुना गया था। १६०६ में 'लाहौर-कांग्रेस' के प्रधान पद से आपने अत्यन्त प्रभावशाली भाषण दिया था। १६१२ में आप दिल्ली-कांग्रेस के प्रधान चुने गए थे। उस अधिवेशन में राजनीतिक बंदियों को मुक्त करने तथा दमनकारी कानूनों को वापस लेने के प्रस्ताव स्वीकृत हुए थे।

१६१० से १६१६ तक मालवीय जी 'व्यवस्थापिका-सभा' के सदस्य रहे। कौंसिल में आप बड़े साहस एवं निर्भीकता के साथ लोकमत का समर्थन करते रहे। आपने 'रौलट-एक्ट' का घोर विरोध किया था। १६१० में जब पंजाब में अत्याचार करने वाले अधिकारियों को दण्ड से मुक्त करने का प्रस्ताव कौंसिल में प्रस्तुत हुआ, तो आपने उसका भी बलपूर्वक विरोध किया।

मालवीय जी में यह विशेष गुण था कि चाहे समर्थक हो या न हो, वे अपना विचार दृढ़तापूर्वक प्रकट कर देते थे। १६२० में जब कांग्रेस की आज्ञा से छात्रों ने स्कूलों और कालिजों का बहिष्कार किया, तो मालवीय जी इसके पक्ष में न थे। उनका विचार था कि शिक्षा-संस्थाओं से सरकार का कोई लाभ नहीं, अपने ही बच्चे साक्षर हो जाते हैं, इसलिए उनका बहिष्कार उचित नहीं। १६२१ में प्रिंस ऑफ वेल्स भारत में आये तो कांग्रेस ने प्रत्येक स्थान पर उनका बायकाट किया, किन्तु मालवीय जी ने उन्हें विश्वविद्यालय में बुलाया और डी० लिट्० की उपाधि से सम्मानित किया। चाहे सारा संसार एक ओर हो और मालवीय जी अकेले दूसरी ओर, किन्तु वे अपने निश्चय से तिल-भर भी न हिलते थे।

१ अगस्त, १६२० को बम्बई में 'तिलक-दिवस' मनाया जा रहा था। पुलिस-अधिकारियों ने जुलूस को आगे बढ़ने से रोक दिया। मालवीय जी बोले—'हम यहीं खड़े रहेंगे।' अधिकारी ने पूछा—'कब तक?' उत्तर

मिला—'जीवन के अन्तिम श्वास तक।' परिणाम यह हुआ कि मालवीय जी अन्य नेताओं के साथ पकड़ लिए गए, १५ दिन की क़ैद अथवा १००) जुर्माना हुआ। न जाने किसने मालवीय जी का जुर्माना दे दिया और वे मुक्त कर दिये गए।

१९३१ में आप 'गोलमेज-परिषद्' में भाग लेने विलायत गए और वहाँ हर प्रकार से गांधी जी को सहयोग देते रहे। वे अपने साथ गंगा-जल तथा अन्य खाद्य-पदार्थ लेते गए थे, जिससे वहाँ की दूषित वस्तुओं का प्रयोग न करना पड़े। आपने वहाँ ईश्वर, हिन्दू-धर्म आदि विषयों पर जनता में अंग्रेजी में प्रभावशाली भाषण दिये।

इसके अनन्तर आप १९३१-३२ में 'दिल्ली' तथा 'कलकत्ता-कांग्रेस' के प्रधान चुने गए थे। आप नियत स्थान पर पहुँचने भी न पाते थे कि सरकार आपको गिरफ़्तार कर लेती थी और दो-चार दिन बाद पुनः छोड़ दिये जाते थे।

राजनीतिक कार्यों के अतिरिक्त मालवीय जी की देश को सब से बड़ी देन काशी का 'हिन्दू-विश्वविद्यालय' है। इसकी स्थापना से पूर्व सदा आप इस बात से दुःखी रहते थे कि हिन्दू नवयुवकों को 'हिन्दू-आदर्शों' एवं 'हिन्दू-संस्कृति' के अनुसार शिक्षा देने का कोई प्रबंध नहीं है। अतः इसके लिए आपने घोर तपस्या प्रारम्भ कर दी। निरन्तर कई वर्षों तक इधर-उधर घूम-फिरकर अपनी अनुपम वाक्-शक्ति तथा घोर परिश्रम द्वारा १ करोड़ रुपया एकत्र किया। ४ फरवरी, १९१६ को बसंत पंचमी के दिन लॉर्ड हार्डिंग ने विश्वविद्यालय की आधारशिला रखी। वास्तव में हिन्दू-विश्वविद्यालय आपकी आशावादिता एवं घोर परिश्रम का ज्वलंत प्रतीक है। आज उस विद्यालय में ४,००० से अधिक छात्र शिक्षा पा रहे हैं।

हिन्दू-समाज के साथ-साथ 'हिन्दी भाषा' भी आपकी सेवाओं से वंचित न रही। बाल्य-काल से ही आपको हिन्दी भाषा और देवनागरी लिपि से प्रेम रहा है। अपने विद्यार्थी-जीवन में आपने प्रयाग में

'साहित्यिक-सभा' की स्थापना की, १६०७ में आपने 'अभ्युदय' और १६१० में 'मर्यादा' मासिक पत्रिका निकालनी प्रारम्भ की थी। १६०० में आपके सद्प्रयत्नों से अदालतों में उर्दू के साथ हिन्दी को भी स्थान मिला। १६१० में आप 'हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन' के सभापति चुने गए थे।

मालवीय जी कट्टर-पंथी न थे। छुआछूत को आपने सदैव शास्त्रों के विरुद्ध बतलाया है। उन्होंने मारवाड़ियों के विरोध की परवाह न करके १६२८ में कलकत्ता में ४०० अछूतों को 'ॐनमः शिवाय' का मन्त्र दिया था।

कांग्रेस के साथ-साथ आपने हिन्दू-महासभा के कार्यों में भी भाग लिया था। १६२२ में आप पूर्णतया हिन्दू-महासभा में तन्मय हो गए थे। १६२६ में आपने और लाला लाजपतराय ने हिन्दू-महासभा की ओट में ही 'नेशनलिस्ट पार्टी' की ओर से चुनाव लड़े थे। १६३४ में आप 'हिन्दू-महासभा' के पूना-अधिवेशन के सभापति बने थे।

साम्प्रदायिक दंगों से आपके हृदय को गहरी चोट पहुँचती थी। जहाँ कहीं दंगा होता, आप तुरन्त वहाँ पहुँचकर पीड़ितों के घाव पर मरहम रखते थे। १६२४ में कोहाट तथा १६२६ में कलकत्ता आप इसी उद्देश्य से गए थे।

१६४६ में बंगाल में जो भीषण नर-संहार हुआ, उसका आपके कोमल हृदय पर बड़ा घातक प्रभाव पड़ा। उस रक्त-पात में हिन्दुओं पर जो बर्बरता एवं अत्याचार हुए, उसे देख-सुनकर आप जीवित न रह सके और कुछ समय पश्चात् ही स्वर्ग सिधार गए।

मालवीय जी का स्वभाव अत्यन्त कोमल तथा विनम्र था। आप में कर्त्तव्य-परायणता, परोपकार, क्षमा, सत्यनिष्ठा, दानशीलता, निर्भीकता, समाज-सेवा, धर्म-प्रेम आदि गुण प्रचुर मात्रा में विद्यमान थे। अपने इन्हीं गुणों के कारण आप जनता और जनार्दन दोनों के प्रिय बने। भारतीय स्वाधीनता के इतिहास में आपका नाम सदैव अमर रहेगा।

६

# विश्व-कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर

युगों के दौर में हजारों वर्षों की साधना के पश्चात् किसी देश अथवा जाति को अपनी आत्मा का सर्वोच्च साकार रूप देखने को मिलता है। भारतीय गगन-मंडल में आकाश-क्षितिज और अंतरिक्ष में जब पतन, अपमान और असहनीय दुःखों की अन्धकारमयी रजनी छाई हुई थी, उस समय शत-शत सौभाग्य से हमारे भाग्याकाश में मंगलमय रवि का उदय रवीन्द्रनाथ ठाकुर के रूप में हुआ। उन्होंने अपनी असाधारण प्रतिभा और भावावेग से देश और जाति के संकीर्ण बंधनों को छिन्न-भिन्न करके विश्व के महामानव की वंदना की। मानव की तड़पती हुई आकांक्षाओं को उन्होंने भाषा प्रदान की, पद-दलित मानव की बुझती हुई आशा को छन्दों में ढाला और उसके पश्चात् आनन्द को हृदय की अंधेरी कंदरा से निकालकर संगीत की सहस्र धाराओं में बहाया। मानव-महत्त्व के इस चिर-जाग्रत पुरोहित ने देश-देशांतर में भ्रमण करके मानवता को दानवी शक्ति से छुटकारा पाने की अमर वाणी सुनाई।
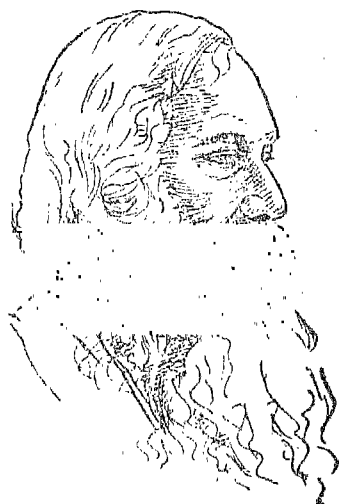
आप भारत के ही नहीं अपितु विश्व के सब से महान् 'कवि, संगीतज्ञ, चित्रकार, शिक्षा-शास्त्री एवं समाज-सुधारक' थे !

रवीन्द्रनाथ का जन्म ६ मई, १८६१ को कलकत्ता के एक कला-प्रिय परिवार में हुआ था। उनके पिता देवेन्द्रनाथ ठाकुर आदि ब्रह्म-समाज के नेता थे। उनका जीवन ऐसा सादा तथा पवित्र था कि लोग उन्हें महर्षि कहा करते थे। उनके बड़े भाई द्विजेन्द्रनाथ दार्शनिक और गद्य-लेखक थे। तीसरे भाई आई० सी० एस० में लिए जाने वाले प्रथम भारतीय होने के कारण प्रसिद्ध थे। इस प्रकार एक प्रख्यात परिवार में रवीन्द्र का जन्म हुआ था।

छोटी अवस्था में ही आप मातृ-प्रेम से हीन हो गए थे। बाल्यावस्था से ही रवीन्द्र को प्रकृति से प्रेम था। वे रीति-रिवाजों की तनिक भी परवाह न करते थे और स्वतन्त्र स्वभाव के स्वामी थे। उन्होंने अपने प्रकृति-प्रेम के सम्बन्ध में स्वयं लिखा है—'मुझे हर सवेरा सुनहरी किनारे वाला लिफाफा-सा प्रतीत होता था, जो मेरे लिए कोई अनसुना समाचार लाया हो।' बाल्य-काल में आपने प्रकृति से अपना सम्बन्ध स्थापित कर लिया था। आप न घर पढ़ाने वाले शिक्षकों की सुनते थे, और न विद्यालयों से ही प्रेम करते थे।

इसी बीच नगर में छूत और फूट पड़ने के कारण आपको बोलपुर गाँव में भेज दिया गया। वहाँ जाकर आपके जीवन में अपूर्व परिवर्तन हुआ। आप गाँव-भर का भ्रमण करके गरीब लोगों से मिलते-जुलते और उनके सुख-दुःख में सहयोग देते थे। प्रकृति के संगीत में आप अधिक-से-अधिक रत रहा करते थे। वहाँ उनमें अपने भाव प्रकट करने की प्रबल प्रेरणा उत्पन्न हुई। उनकी आत्मा से ऐसी 'कविता का प्रवाह' स्वयं ही फूट पड़ा, जो 'सादगी, मधुरता, संगीत और भोलेपन' से परिपूर्ण थी।

रवीन्द्र की शिक्षा घर पर ही हुई। उनके पिता ने उन्हें स्कूल भेजने का हठ कभी न किया। परन्तु आपके सम्बन्धी चाहते थे कि रवीन्द्र

उच्च शिक्षा पाकर कोई डिग्री प्राप्त करें। इसी उद्देश्य से १८७७ में आपको इंगलैंड भेजा गया; किन्तु आप वर्ष भर के बाद कोरे लौट आए। एक बार पुनः इंगलैंड भेजा गया था कि कानून पढ़ आयें, किन्तु वे पूर्ववत् ज्यों-के-त्यों वापस आ गए। इंगलैंड से आकर आप पूर्णतया साहित्य में लीन हो गए।

२२ वर्ष की अवस्था में रवीन्द्र का विवाह हो गया। उसी समय पिता ने अपनी जमींदारी की देख-भाल के लिए आपको शिलैडा जाने की आज्ञा दी। सभ्यता की परस्पर-विरोधी विचारधाराओं से दूर जा पड़ने पर भी शिलैडा के निवास ने आपकी कला को गम्भीर बनने में सहायता दी। वहाँ प्रौढ़ अवस्था में पहली बार साधारण लोगों से आपका मेल-जोल हुआ। वहाँ आपको जीवन का विविध और गम्भीर ज्ञान प्राप्त हुआ। आपने अपनी कई उत्तम कहानियों की रचना इसी काल में की थी। 'साधना' नामक पत्रिका का आरम्भ भी इसी काल में किया जो कि लगभग २० वर्ष तक उनके विचारों के प्रकाशन का प्रधान साधन रही। आज भी वह अपने ढंग की सर्वोत्तम पत्रिका है। इसी पत्रिका में प्रकाशित आपके 'उत्तम तत्त्वों की डायरी' नाम के लेखों में भारत के तत्कालीन राजनीतिक विचारों का दिग्दर्शन होता है।

शिलैडा गंगा और ब्रह्मपुत्र के संगम पर एक बहुत ही रमणीक स्थान है। वहाँ के प्राकृतिक दृश्य बड़े हृदयग्राही तथा मनमोहक हैं। दूर-दूर तक जमीनें बिखरी हुई थीं। उनकी देख-भाल के लिए रवीन्द्र को नौका पर चढ़कर जाना पड़ता था, और उसमें उन्हें बड़ा आनन्द मिलता था। उन्होंने जमीनों का प्रबन्ध भली-भाँति किया। खेती में नवीन साधनों का प्रयोग किया, किसानों की स्वच्छता और स्वास्थ्य की ओर ध्यान दिया, किराये जमा कर दिए और उनके बच्चों की शिक्षा के लिए स्कूल का प्रबन्ध किया। आप किसानों से मिलते-जुलते रहते थे और उनके दुःख-सुख में सम्मिलित रहते थे। इस प्रकार वे उनके मित्र और पथ-प्रदर्शक बन गए।

शिक्षा के सम्बन्ध में उनकी एक निश्चित धारणा थी, जिसे उन्होंने 'शांति-निकेतन' के रूप में साकार मूर्तिमान किया। शांति-निकेतन उन इनी-गिनी भारतीय संस्थाओं में से एक है जिनमें प्राचीन भारतीय संस्कृति को वर्तमान आवश्यकताओं के अनुकूल बनाकर, पूर्वीय शिक्षा-पद्धति को आधारशिला बनाया गया है। यह वह संस्था है जहाँ पर कवीन्द्र 'ईश्वर, प्रेम और कला' के आदर्शों द्वारा छात्रों को उन्नति का मार्ग दिखाया करते थे। वहाँ के बच्चे प्रकृति-माता की गोद में खेला-पढ़ा करते हैं। वहाँ के स्नातक अपनी 'सादगी, पवित्रता, धार्मिकता, प्रकृति-प्रेम' और 'देश-भक्ति' के कारण प्रसिद्ध हैं। उनमें 'पूर्व' और 'पश्चिम' दोनों की सभ्यताओं के सर्वोत्तम गुणों का मेल होता है। उनमें 'पूर्व का भक्तिपूर्ण रहस्यवाद' और 'पश्चिम की शान्त यथार्थता' पाई जाती है, उस संस्था की कार्य-प्रणाली यही है।

१६०२ में रवीन्द्र पर आपत्तियों का पर्वत टूट पड़ा। उनकी पत्नी का देहान्त हो गया। उन्हें चिंताओं ने आ घेरा। संसार अंधकारपूर्ण दिखाई देने लगा। वे अपने पुत्र और क्षय-रोग से पीड़ित पुत्री को लेकर एकान्त-सेवन के लिए पहाड़ियों पर चले गए। वहाँ उन्होंने अपनी पत्नी की स्मृति में अत्यन्त करुणाजनक और कमनीय कविताएँ लिखीं, जो 'स्मरण' में संकलित हैं। उसके पश्चात् 'माली', 'चन्द्र-कला' और 'गीतांजलि' की रचना हुई।

इसके अनन्तर रवीन्द्र रुग्ण हो गए और उन्हें विदेश जाने की सलाह दी गई। १६२१ में वे इंगलैंड के लिए चल पड़े। उनका यश उनसे पहले ही वहाँ पहुँच गया था। वे जहाँ भी गए, वहीं उनका उचित स्वागत हुआ। उन्होंने अमरीका में वर्ष-भर रहकर 'माली' और 'चन्द्र-कला' का अंग्रेजी में अनुवाद प्रकाशित कराया। अगले वर्ष जब उन्हें 'गीतांजलि' पर 'नोबल पुरस्कार' प्राप्त हुआ, तब संसार ने उनकी महान् साहित्यिक प्रतिभा को पहचाना। १६१४ में भारत-सरकार ने उन्हें 'सर' की उपाधि द्वारा सम्मानित किया, किन्तु १६१६ में 'जलियाँ-

वाला बाग' में जब सरकार द्वारा बर्बरतापूर्ण नर-संहार किया गया तो उन्होंने अत्यन्त जोरदार शब्दों में सरकार के अत्याचार की निन्दा करते हुए विरोध प्रकाशन के रूप में 'सर' की उपाधि का परित्याग कर दिया।

रवीन्द्र ने भारतीय राष्ट्र-निर्माण के लिए चहुँमुखी प्रयत्न किया। एक सच्चे समाज के लिए उन्होंने कहा था—'जब तक हम स्त्रियों और अछूतों को साथ न ले जायँगे तब तक हमारा विकास अधूरा रहेगा। कारण जब हम ऊँचे चढ़ेंगे, तब वे नीचे से पाँव पकड़कर हमें भी नीचे की ओर खींच लेंगे। क्योंकि सशक्त के लिए अशक्त और निर्बल उसी प्रकार खतरनाक है, जिस प्रकार हाथी के लिए बालू। वे प्रगति में सहायक नहीं होते, क्योंकि वे विरोध नहीं करते; वे केवल पतन को नीचे उतार लाते हैं।'

स्वतन्त्रता के वे पूर्णतया समर्थक थे। उन्होंने समय-समय पर 'भारतीय-स्वतन्त्रता' का खुले शब्दों में समर्थन किया था और विदेशियों की कड़ी-से-कड़ी आलोचना करने में नहीं चूके थे।

रवीन्द्रनाथ का व्यक्तित्व बड़ा प्रभावशाली था। वे अपने लम्बे रेशम-से केशों, लहराती हुई दाढ़ी और ऊँची-पतली काया के कारण प्राचीन भारत के ऋषियों के समान जान पड़ते थे। उनका स्वभाव धार्मिक, हृदय विशाल, और विचार उदार थे। आपत्ति के समय वे प्रभु-इच्छा के सम्मुख शान्तिपूर्वक शीस झुका देते थे। उनका जीवन सभी के लिए आदर्श और अनुकरणीय जीवन था। उन्होंने उस प्राचीन भारतीय संस्कृति को पुनः जीवित कर दिखाया, जो लगभग मर चुकी थी। अगस्त १६४१ में उनके देहांत से जो स्थान खाली हुआ है उसकी पूर्ति शताब्दियों में भी कठिनता से होगी।

७

# महात्मा हंसराज

भारत के शिक्षा-शास्त्रियों में महात्मा हंसराज का एक विशेष स्थान है। शिक्षा के लिए किया गया उनका त्याग अनुपम है। आप पवित्रता एवं सादगी की मूर्ति थे। आपने बाल्यकाल से ही समाज-सेवा का व्रत लेकर आजीवन उसे निभाया। दीन-हीन समाज की अवस्था देखकर आप व्यग्र हो उठते थे और सच्ची सहानुभूति एवं संलग्नता से उसकी सेवा में रत हो जाते थे। आपके द्वारा शिक्षा-प्रसार का एक महान् कार्य सम्पन्न हुआ। पूर्वी पंजाब और युक्तप्रान्त में फैला हुआ डी० ए० वी० कालिजों और स्कूलों का जाल ही इस कीर्ति को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए पर्याप्त है।

१२ अप्रैल, १८६४ में इस महान् आत्मा का जन्म एक निर्धन परिवार में हुआ। आपके पिता का नाम चुन्नीलाल और माता का नाम श्रीमती हरदेवी था। १० वर्ष की छोटी अवस्था में ही माता-पिता की छत्र-छाया आपके सिर से उठ गई। सारे परिवार का भार बड़े भाई मुल्कराज के सिर आ पड़ा; उन्होंने योग्यतापूर्वक अन्त तक अपने कर्त्तव्य का पालन किया। हंसराज जी की प्रारम्भिक शिक्षा लाहौर के मिशन-स्कूल में हुई। आपकी विलक्षण बुद्धि का स्पष्ट परिचय विद्या-

काल से ही मिलता था। अपनी श्रेणी में आप सदा सर्वप्रथम रहते थे। आर्य धर्म और संस्कृति में आपको बाल्यावस्था से ही अनुराग हो गया था। एक बार स्कूल के हेडमास्टर ने आर्य सभ्यता पर अनुचित कटाक्ष किये तो आपने निर्भीकतापूर्वक उनका घोर विरोध किया, जिसके परिणामस्वरूप आपको दो दिन के लिए स्कूल से निकाल दिया गया था।

सन १८८० में आपने मिशन-स्कूल से मैट्रिक पास किया और उसी वर्ष गवर्नमेंट कालिज में प्रविष्ट हुए। कालिज में ला० लाजपतराय और पं० गुरुदत्त विद्यार्थी जैसी महान् आत्माओं का साहचर्य मिला। बी० ए० में आपका पंजाब-भर में द्वितीय स्थान रहा। उपरोक्त तीनों महापुरुषों के हृदयों में आर्य सभ्यता के स्थापन और प्रसार के लिए आत्म-समर्पण की ज्योति यहीं पर जागृत हुई। कालिज-जीवन में आपने पं० गुरुदत्त के साथ मिलकर एक साप्ताहिक पत्र 'रेजेस्टर ऑफ आर्य जगत्' का सम्पादन किया था। आपके इस समय के लेखों ने ही आर्य जगत् में हलचल मचा दी थी। १८६२ में ला० लाजपतराय के सहयोग में 'आर्य गजट' का सम्पादन भी आपने किया था। उस समय आप बी० ए० पास कर चुके थे।

सन् १८८३ में आर्य समाज के संस्थापक महर्षि स्वामी दयानन्द का देहावसान हो गया। उनकी पवित्र स्मृति को चिरस्थायी बनाये रखने के लिए लाहौर में 'दयानन्द एंग्लो-वैदिक कालिज' बनाने का निश्चय किया गया, किन्तु इसके लिए पर्याप्त धन न था। हंसराज जी अपने साथियों के साथ मिलकर इसके लिए बहुत परिश्रम करने लगे। अन्त में १८८६ में आपका स्वप्न पूरा हुआ और लाहौर में डी० ए० वी० स्कूल की स्थापना की गई। आपने अपने बड़े भाई से अनुमति लेकर अपनी अवैतनिक सेवाएँ स्कूल के लिए समर्पित कर दीं। आप स्कूल के हेडमास्टर बने। दो वर्ष पश्चात् ही स्कूल कालिज के रूप में परिवर्तित हो गया और १८६४ में बी० ए० तक की श्रेणियाँ खुल गईं। महा-

पुरुषों में उत्साह और लगन होती है तथा साथ ही अध्यवसाय की दृढ़ता। दृढ़ता और अध्यवसाय ही किसी कार्य में सफलता प्राप्त करने के दो मूल मंत्र हैं। महात्मा हंसराज में ये दोनों गुण प्रचुर मात्रा में विद्यमान थे। आपके सद्प्रयत्नों से १८९६ में जालन्धर में और १८९८ में होशियारपुर में डी० ए० वी० कालिज की स्थापना की। आज तो समस्त पंजाब में ही डी० ए० वी० कालिजों और स्कूलों का जाल-सा बिछा है। इनकी नींव को महात्मा हंसराज ने अपने रक्त से सींचा था। यह बात भारतीय शिक्षण-क्रान्ति के इतिहास में चिरस्मरणीय रहेगी।

महात्मा हंसराज जी का सिद्धान्त था कि दूसरों को शिक्षा देने तथा सर्वसाधारण में सच्चे ज्ञान का प्रसार करने के लिए पहले स्वयं ज्ञान-रत्नों की प्राप्ति की जाय। इस उद्देश्य से अन्य सब कार्यों को करते हुए भी उन्होंने स्वयं 'संस्कृत' भाषा पढ़ी और वेद-शास्त्रों का गम्भीर अध्ययन किया। आपका त्याग कालिज में अवैतनिक कार्य करते रहने तक ही सीमित नहीं है, प्रत्युत आपका समूचा जीवन एक आदर्श त्याग और तपस्या का ज्वलन्त उदाहरण था। आपके रहन-सहन एवं खान-पान में पूर्ण सादगी झलकती थी। स्वदेशी का व्रत तो आपने तब से ले रखा था, जब इसका कोई नाम भी नहीं जानता था।

महात्मा हंसराज में एक सर्वोत्तम गुण था—'ईश्वर पर दृढ़ विश्वास'। जीवन में अनेक आपत्तियाँ आने पर भी आपने अपने इस विश्वास को नहीं छोड़ा। १९१४ में आपके बड़े पुत्र बलराज को 'लाहौर षड्यन्त्र केस' में काले पानी की सज़ा हुई और उन्हीं दिनों आपकी पत्नी का देहावसान हो गया, किन्तु आप इससे तनिक भी विचलित नहीं हुए और धैर्यपूर्वक अपना कार्य करते रहे। नम्रता और सेवा-भाव तो आप में कूट-कूटकर भरा था।

महात्मा हंसराज ने अपना समस्त जीवन 'जन-सेवा' में ही व्यतीत कर दिया। जब कांगड़ा और गढ़वाल में अकाल पड़ा तो आप तुरन्त वहाँ पहुँचे और अकाल-पीड़ितों की सहायता में दिन-रात एक कर दिया।

'मोपला-युद्ध' के समय आपने आहत हिन्दुओं की भरसक सहायता की। ऋषि दयानन्द के उद्देश्यों को आगे बढ़ाने में आप सतत प्रयत्नशील रहे। १६ नवम्बर, १९३८ को आपकी मृत्यु हो गई और पंजाब की भूमि से एक सच्चे कर्मयोगी-जीवन का आदर्श उपस्थित करने वाला व्यक्ति उठ गया। वास्तव में आपका जीवन 'पवित्र, उज्ज्वल एवं अनुकरणीय' था।

३

# दार्शनिक तथा तत्त्ववेत्ता

१

स्वामी रामतीर्थ

२

रामकृष्ण परमहंस

३

स्वामी विवेकानन्द

४

योगिराज अरविन्द

५

आचार्य विनोबा भावे

६

सर्वपल्ली राधाकृष्णन्

७

डॉक्टर भगवानदास

१

# स्वामी रामतीर्थ

भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता की गति तथा चेतना उन महान् दार्शनिकों से मिली है, जिन्होंने सत्य के साक्षात्कार को और तत्त्व के स्वरूप-निर्णय को अपने जीवन का चरम लक्ष्य मानकर आजीवन कठोर तपस्या और सतत साधना की थी। याज्ञवल्क्य, गौतम, अक्षपाद, जैमिनी, कपिल, पतंजलि, शंकर, कुमारिल, रामानुज प्रभृति महान् मनीषियों की परम्परा ने भारतीय संस्कृति को आध्यात्मिकता से ओत प्रोत कर दिया। इन तत्त्ववेत्ताओं ने मानव-जीवन के चरम लक्ष्यों का स्वरूप निर्धारित किया, तत्त्व की मीमांसा की, पुरुषार्थ-प्राप्ति के साधनों की व्याख्या की, धर्म का स्वरूप स्पष्ट किया, व्यक्ति एवं समष्टि के सम्बन्ध की विवेचना की, मोक्ष का सम्यक् निर्धारण किया तथा विश्व के आदि-अन्त का चिंतन किया। मानव के चिरन्तन प्रश्नों का जितना विशद एवं गम्भीर विवेचन इन भारतीय दार्शनिकों में हुआ, उतना अन्यत्र कहीं नहीं देखा। जीवनोन्मुख भारतीय दर्शन के मूल सिद्धान्तों से भारतीय संस्कृति अनुप्राणित तथा संचारित होती रही है। इसी कारण वह विश्व की अन्य संस्कृतियों की अपेक्षा महान् है। स्वामी रामतीर्थ इन्हीं महान् भारतीय दार्शनिकों की

पुरातन परम्परा को अर्वाचीन जीवन से सम्बद्ध करते हैं। उन्होंने चेतना-हीन पराधीन भारत को एक अपूर्व प्रकाश एवं प्रेरणा दी थी। जिसके फलस्वरूप शताब्दियों का अन्धकार जागृति के प्रकाश में विलीन हो गया।

स्वामी रामतीर्थ का जन्म महाकवि तुलसीदास के गोसाईं वंश में दीपमालिका के दूसरे दिन बुधवार २२ अक्तूबर, १८७३ को गुजरान-वाला (पंजाब) के मुरली वाला नामक ग्राम में हुआ था। ज्योतिषियों ने भविष्यवाणी की थी कि यह बालक आगे चलकर प्रतिभावान् व्यक्ति होगा, धर्म का संस्थापक होगा, विदेशों में भ्रमण करेगा और ३३वें वर्ष में जल-संकट से जीवन समाप्त कर देगा। उनके जीवन में यह बातें अक्षरशः सत्य प्रमाणित हुईं।

अभी राम दो वर्ष के भी नहीं हुए थे, कि उनके पिता ने पंडित रामचन्द्र की सुपुत्री से आपका विवाह निश्चित कर दिया। दसवें वर्ष में विवाह भी कर दिया गया। ५ वर्ष की अवस्था में राम ने विद्याभ्यास प्रारम्भ कर दिया और सन् १८८८ में उन्होंने 'पंजाब-विश्वविद्यालय' से 'मैट्रिक' की परीक्षा पास की। इसके पश्चात् आप 'मिशन-कालिज, लाहौर' में प्रविष्ट हुए और १८९० में एफ० ए० की परीक्षा में प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हुए। १८९२ में राम ने बी० ए० की परीक्षा में पुनः प्रथम स्थान प्राप्त किया। १८९५ में २० वर्ष की अवस्था में उन्होंने 'गणित-शास्त्र' लेकर प्रथम श्रेणी में एम० ए० पास कर लिया।

स्वामी रामतीर्थ प्रारम्भ से ही भगवद्गीता में आस्था रखते थे। शारदा मठ के शंकराचार्य स्वामी राजेश्वर तीर्थ के सम्पर्क से वेदान्त की ओर आपकी प्रवृत्ति झुकी। अगस्त १८९७ में पुण्य-सलिला गंगा के रम्य तट पर रामतीर्थ ने साधना के लिए एक कुटी बना ली और आत्म-साक्षात्कार में रत हो गए। २५ अक्तूबर, १८९७ को दीपमालिका के दिन आपको आत्मबोध एवं वैराग्य हो गया। १९०१ के प्रारम्भ में आपने संन्यास ग्रहण कर लिया। इसके पश्चात् रामतीर्थ के नाम से

प्रख्यात हो गए।

स्वामी विवेकानन्द की भाँति स्वामी रामतीर्थ वेदान्त दर्शन के अद्वितीय प्रतिभा-संपन्न व्याख्याकार थे। उनके व्यक्तित्व में भारतीय श्रुति परम्परा की परिणति हुई थी। उनके जीवन-दर्शन में जन-हित, विश्व-मैत्री, व्यष्टि-समष्टि के सम्पूर्ण ऐक्य तथा विश्व के कल्याणमय स्वरूप का पूर्ण सामंजस्य हुआ था। उन्होंने व्यक्ति में आत्म-विश्वास का संचार किया और बताया कि यह सीमित तथा पराधीन व्यक्ति वास्तव में दिव्य है तथा ब्रह्म तत्त्व का ही रूप है। उन्होंने वेदान्त की बड़ी सुन्दर व्याख्या की है। उन्होंने बताया कि 'वेदान्त का अभिप्राय आलस्यता-निष्क्रियता नहीं, बल्कि आगे बढ़ाने वाला, गतिशील क्रम है, जड़तापूर्ण कष्टसाध्य कर्म नहीं, बल्कि आनन्दजनक कार्य-कलाप है; संशय की दुर्बलता नहीं, बल्कि समन्वयपूर्ण एकीकरण है; मत रूढ़िवाद नहीं, बल्कि सामयिक सुधार है; उड़नशील कल्पना नहीं, बल्कि तथ्य का काव्य है; जीवन-हीन श्रुति-उद्धरण नहीं, बल्कि वास्तविक साक्षात्कार है।' वेदान्त के परम लक्ष्य की प्राप्ति के लिए हिमालय की शरण लेने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि वह अपने स्थान पर रहकर ही व्यष्टि और समष्टि की तात्त्विक एकता का हृदय से अनुभव करके आत्म तथा समस्त जन के कल्याण-साधन के द्वारा ही सम्भव है।

इसी प्रकार 'समाजवाद' तथा 'लोकतन्त्र' का वेदान्त के साथ आपने सुन्दर सामंजस्य स्थापित किया है। आपने बताया है कि लोकतन्त्र तथा समाजवाद व्यक्ति की स्वतन्त्रता की रक्षा करते हुए व्यक्ति-भेद एवं वर्ग-भेद का उन्मूलन कर देना चाहते हैं। प्रत्येक व्यक्ति इस दृष्टि से समान रूप से महत्त्वपूर्ण है, और दूसरे को साधन बनाकर आत्म-हित का साधन रोकना समाजवाद का मुख्य लक्ष्य है। स्वामी रामतीर्थ ने कहा है कि 'प्रत्येक व्यक्ति को अपना स्तर प्राप्त करने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए। व्यक्ति का सिर चाहे कितना ही ऊँचा हो, किन्तु उसके पैर धरती पर होने चाहिएँ, दूसरों के कन्धों पर या गले पर नहीं, चाहे वह

व्यक्ति निर्बल और विरोध-हीन ही क्यों न हो।' समाजवाद की ललकार पूँजीवाद का उच्छेद है, और इस अर्थ में उनका वेदान्त से साम्य है। वेदान्त अपग्रह का उपदेश देता है, इसलिए इस विषय पर समाजवाद तथा वेदान्त में ऐक्य है। समाजवाद वर्ग-भेद मिटाकर व्यक्ति-साम्य स्थापित करना चाहता है, इस कारण उसका नारा है कि अनावश्यक धन-संग्रह हेय, अधिकार-संग्रह त्याज्य है। समाजवाद की निर्बलता यह है कि वह इस आशय का उपदेश-मात्र करता है, इसके लिए समुचित हेतु उपस्थित नहीं करता। वेदान्त अपूर्ण समाजवाद की बाह्य दृष्टि को पूर्ण करता है, क्योंकि वह समाजवाद के प्रमुख आदेशों के लिए आध्यात्मिक आधार प्रस्तुत करता है। वह आधार है व्यष्टि एवं समष्टि का ऐक्य। स्वामी रामतीर्थ ने बताया कि 'समाजवाद' एक गलत संज्ञा है क्योंकि इससे व्यक्ति की अपेक्षा समाज का अधिक महत्त्व जान पड़ता है, जो कि समाजवाद का वास्तविक अभिप्रेत नहीं है। इस कारण 'समाजवाद' के स्थान पर 'व्यष्टिवाद' कहना अधिक उपयुक्त है।

स्वामी रामतीर्थ ने इस निराधार धारणा का भी निराकरण किया है कि भारत का पतन आध्यात्मिक तथा पारमार्थिक दर्शन एवं वेदान्त के कारण हुआ। उन्होंने बताया कि राष्ट्र के पतन का वास्तविक कारण यह था कि उसने वेदान्त को केवल बौद्धिक रूप में ग्रहण किया और उसके अनुसार जीवन-यापन करने का कभी प्रयत्न नहीं किया। साथ ही वेदान्त का सच्चा स्वरूप समझने का राष्ट्र ने कभी प्रयास नहीं किया। और न ही संन्यास के वास्तविक अभिप्राय को ही समझा। वास्तव में भारत के इस दीर्घ पतन का कारण वेदान्त से अनभिज्ञता ही थी। घर में दीपक वर्तमान था, फिर भी हमने आँखें नहीं खोलीं और अब हम समझते हैं कि वह दीपक का प्रकाश ही हमारे दृष्टि-अवरोध का कारण था।

स्वामी रामतीर्थ ने बताया कि अपने विचारों, सम्यक् ज्ञान तथा अन्तर के प्रकाश से ही व्यक्ति की उन्नति हो सकती है। इसी से व्यक्ति

पर नियन्त्रण हो सकता है। सब पुरुषार्थों की सिद्धि के लिए सम्यक् ज्ञान की अपेक्षा है, चाहे उसमें व्यक्ति का हित हो अथवा समाज का। सच्चे विकास तथा उन्नति का आधार वह अनुमिति-जन्य ज्ञान है जिससे व्यष्टि-समष्टि विश्व का ऐक्य होता है। इसी का नाम 'वेदान्त' है। इस प्रकार का आदर्श विचार तथा ज्ञान व्यक्ति के व्यवहार में स्नेह, कल्याण-साधन तथा विश्व-मैत्री का रूप धारण करता है। इसलिए राष्ट्र की वास्तविक उन्नति का एक-मात्र राजमार्ग वेदान्त का सम्यक् परिपालन है। आध्यात्मिकता द्वारा ही राष्ट्र की उन्नति हो सकती है। आध्यात्मिकता का अर्थ है—स्वतन्त्रता, न्याय और विश्व-मैत्री।

सन् १९०२ में जापान में 'धर्म-सभा' का आयोजन हुआ था। जिसमें सभी धर्मों के प्रतिनिधि आमन्त्रित थे। टिहरी के महाराजा की प्रार्थना से स्वामी रामतीर्थ ने २८ अगस्त को जापान के लिए प्रस्थान किया। वहाँ टोकियो-कालिज में 'सफलता की कुँजी' नाम से आपने अत्यन्त प्रभावशाली भाषण दिया था, जिसने श्रोताओं को मन्त्र-मुग्ध कर दिया। उपस्थित जनों में प्रोफेसर और छात्र सभी थे। वे आपको जापान से 'अमरीका' ले गए। वहाँ आपने अनेक वेदान्त-विषयों पर सुन्दर एवं आकर्षक व्याख्यान दिये, जो बाद में 'ईश्वर-साक्षात्कार के पुण्य में' के नाम से ८ भागों में पुस्तकाकार प्रकाशित हुए थे।

१९०४ के अन्त में स्वामी रामतीर्थ पुनः भारत वापस आ गए। इसके पश्चात् प्रायः एक वर्ष भ्रमण करके वे 'प्रचार-कार्य' करते रहे। नवम्बर १९०५ में आप 'हिमालय-निवास' के लिए चले गए। इसके पश्चात् एक दिन गंगा में स्नान करते समय स्वामी रामतीर्थ प्रबल धारा में बह गए। इस प्रकार आपने ३३ वर्ष की अवस्था में 'जल-समाधि' ले ली।

स्वामी रामतीर्थ तथा गांधी जी के जीवन-दर्शन में कोई भिन्नता नहीं है। गांधी जी के 'जीवन-दर्शन' में जो सत्य का साक्षात्कार है,

यही स्वामी राम के जीवन-दर्शन में व्यावहारिक वेदान्त है। वास्तव में स्वामी रामतीर्थ भारत के उन महान् दार्शनिकों में थे, जिन्होंने अपनी आध्यात्मिकता के प्रकाश से राष्ट्र को ज्योतित कर दिया।

२

# रामकृष्ण परमहंस

प्राचीन काल से ही भारत में ऐसे सन्तों की परम्परा चली आती है, जिन्होंने महान्धकार के समय में अपने आत्मज्ञान एवं तपोबल के आलोक द्वारा पथ-भ्रष्ट मानव जाति का 'पथ-प्रदर्शन' किया है। सन्तों के पावन पाद-पद्मों में जो अनवरत आनन्द-सलिल बहता है, उस चरणोदक से अनेक बार ही क्यों, सदैव ही मानव-जाति का कल्याण हुआ है। यही कारण है कि धार्मिक विभिन्नता होते हुए भी सभी जातियाँ अपने-अपने सन्तों को श्रद्धांजलि समर्पित करती हैं और उनकी गौरव-गाथा से शिक्षा ग्रहण करने का प्रयत्न करती हैं। 'सन्तों की वाणी, उनके उपदेश, उनका जीवन और उनके आदर्श सदैव ही मनुष्य-जाति के लिए कल्याण-प्रद रहे हैं।' उनके पावन-जीवन के प्रताप से ही उनके नाम पर किये गए कार्यों में स्वतः पावनता आ जाती है। जब शत्रु के उष्ण रक्त का प्यासा सिपाही भी सेण्ट जार्ज की दुहाई देकर प्रबल वेग से आक्रमण करता है, तो उससे भी हमारी सहानुभूति हो जाती है। शिवाजी के हृदय में एक बार ही शौर्य, साहस और कर्त्तव्य-पालन की लगन समर्थ गुरु रामदास ने ही उत्पन्न की, गुरु
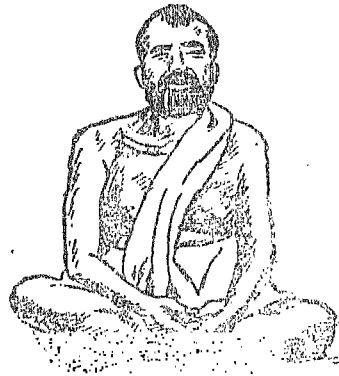
गोविन्दसिंह तथा उनके अबोध बालकों के हृदय में गुरु नानक के उपदेशों ने बलिदान-भावना जागृत की; विश्व-प्रसिद्ध सम्राट् अशोक के चरित्र को भगवान् बुद्ध के वचनों ने ही उज्ज्वलतम बनाया। अर्वाचीन युग में बंगाल के स्वामी रामकृष्ण परमहंस के उपदेशों और आदर्श कृत्यों के सामने भी आज समस्त संसार सिर झुका रहा है। एक अशिक्षित सामान्य पुजारी ने ऐसा विलक्षण कार्य कर दिखाया, जो बड़े-बड़े कर्मवीर भी नहीं कर सकते थे।

श्री रामकृष्ण परमहंस का जन्म २० फरवरी, १८३३ ई० को बंगाल के 'कुमार पुकुर' नामक ग्राम में खुदीराम ब्राह्मण के घर में हुआ था। खुदीराम एक निर्धन, किन्तु सीधे-सादे, सात्विक एवं ईश्वर-भक्त ब्राह्मण थे। उनके घर में नित्य शालिग्राम जी की पूजा होती थी। रामकृष्ण परमहंस का वास्तविक नाम गदाधर था, संन्यास लेने पर वे रामकृष्ण परमहंस कहलाये।

पं० खुदीराम बालक गदाधर को अपने समान ही धर्म-निष्ठ एवं ईश्वर-भक्त बनाना चाहते थे। वे गदाधर को अपने समीप बैठाकर रामायण, महाभारत आदि की कथा सुनाया करते और गदाधर दत्त-चित्त होकर प्रेमपूर्वक उन कथाओं को सुनता। फलस्वरूप बाल्यावस्था में ही उन्हें ईश्वर-भक्ति एवं धर्म में पूर्ण निष्ठा हो गई। वे अपने पिता द्वारा बताई हुई कथाओं को छोटे-छोटे बच्चों के बीच में बैठकर उन्हें सुनाया करते थे।

पाँच वर्ष की अवस्था में उन्होंने पाठशाला में प्रवेश किया। गदाधर की बुद्धि बड़ी कुशाग्र तथा स्मरण-शक्ति तीव्र थी। साथ ही उनका स्वभाव अत्यन्त सरल तथा व्यवहार अति सुन्दर था। जिसके कारण वे कुछ ही दिनों में पाठशाला के अध्यापकों के प्रिय बन गए। पाठशाला में पढ़ते समय वे सभी धार्मिक कृत्यों एवं समारोहों में भाग लिया करते थे। जब वे अपने मृदुल एवं कोमल स्वरों में भगवद्भक्ति के गाने सुनाते, तो ग्राम-निवासी सुनकर मन्त्र-मुग्ध हो जाते। रामलीला

में वे राम का अभिनय किया करते थे और कृष्ण-लीला में राधा का अभिनय करते-करते वे इतने तल्लीन हो जाते कि आत्म-विस्मरण की स्थिति हो जाती थी। एक बालक का इतना सुन्दर अभिनय देखकर सभी आश्चर्य-चकित एवं गद्‌गद् हो जाते। इस प्रकार बाल्य-काल में ही वे भावपूर्ण समाधि लगा जाते थे। इस भावपूर्ण समाधि से सम्बन्धित उनके शैशव-काल की एक घटना बड़ी मनोरंजक है। वर्षा ऋतु में एक बार वे अपने मित्रों के साथ जंगल की सैर को गये। शीतल वायु अपनी मंद गति से चल रही थी। आकाश काले मेघों से आच्छादित था। गदाधर एकटक काले मेघों की ओर निहारने लगे। सहसा उन्होंने देखा कि काले मेघों के बीच श्वेत बगुलों की पंक्ति उड़ी चली आ रही है। उन्हें देखकर बालक गदाधर को ईश्वर-महिमा का स्मरण हो आया। वे एकटक बगुलों की पंक्ति को निहारते-निहारते ईश्वर-चिन्तन में इतने तल्लीन हो गए, कि मानो शरीर प्राण-रहित हो गया हो। अन्त में मूर्छित होकर पृथ्वी पर गिर पड़े। साथी उठाकर घर लाये। बहुत देर बाद उन्हें होश आया।

पाठशाला में गदाधर ने पढ़ने-लिखने में विशेष उन्नति न की। कारण, प्रारम्भ से ही उनकी अन्तःप्रेरणा ईश्वर-भक्ति की ओर हो गई थी। ग्राम के कुम्हार के लड़कों के साथ मिलकर वे छोटे-छोटे देवी-देवताओं की मूर्तियाँ बनाया करते थे। चित्रकारों के पास जाकर चित्र बनाना सीखते थे। ७ वर्ष की आयु में जब उनके पिता की मृत्यु हो गई तो उनके बड़े भाई रामकुमार ने परिवार का भार सँभाला।

पिता की मृत्यु के पश्चात् गदाधर के जीवन में कुछ परिवर्तन हो गया था। वे प्रत्येक क्षण अपनी माता के साथ रहते और स्वयं अपनी वेदना को छिपाकर माता को प्रसन्न रखने की चेष्टा किया करते थे। इसी बीच उन्हें एक और सनक सवार हुई। प्रायः एकांत स्थान में बैठकर वे देवी-देवताओं की मूर्तियाँ बनाकर उनकी पूजा किया करते थे। कभी-कभी श्मशान में जाकर बरगद के पेड़ के नीचे ध्यान लगाकर बैठ

जाते। जब साधुओं के सत्संग में रहते तो प्रायः उनके पास ही बैठे रहते। उनकी सेवा करते और उनके स्तोत्र-पाठ तथा भजन आदि बड़ी भक्ति से सुनते। कभी-कभी साधुओं का वेष बनाकर, शरीर पर भस्म लगाकर माता के पास चले जाते, माता उन्हें देखकर गद्‌गद् कण्ठ से गले लगा लेतीं।

पं० खुदीराम की मृत्यु के पश्चात् इनके घर की आर्थिक स्थिति खराब हो गई। अपने कुछ मित्रों के आग्रह से रामकुमार ने कलकत्ता जाकर धन कमाने का निश्चय किया। रामकुमार ने कलकत्ता जाकर झामापुकुर नामक मोहल्ले में पाठशाला खोलकर बच्चों को पढ़ाने का कार्य आरम्भ कर दिया। कुछ समय पश्चात् उन्होंने पढ़ाने-लिखाने के विचार से गदाधर को भी अपने पास बुला लिया। अध्यापन-कार्य के अतिरिक्त रामकुमार धनी-मानी लोगों के घर पर जाकर पूजा-पाठ एवं कथा-वार्ता भी किया करते थे। गदाधर ने भी उनके इस कार्य में सहयोग देना आरम्भ कर दिया। जिस समय यह सरल स्वभाव का निष्ठावान् ब्राह्मण-कुमार यजमान के घर पूजा करने बैठता, उस समय ऐसा प्रतीत होता, मानो स्वयं देवता आकर हाथ पसारे उसके भक्ति-अर्घ को ले रहे हैं। जिस समय वे अपने मधुर कंठ से पूजा के मन्त्रों का उच्चारण करते, जान पड़ता कि प्रस्तर की प्रतिमा उनकी प्रार्थना सुन रही है।

कलकत्ता के जान बाजार मोहल्ले में राजचन्द्र दास नामक एक प्रतिष्ठित ज़मींदार रहते थे। उनकी मृत्यु के पश्चात् उनकी रानी ने गंगा के किनारे दक्षिणेश्वर नामक स्थान में एक बड़ा भारी काली का मन्दिर बनवाया। उस मन्दिर में उन्होंने जब द्वादश-लिंग शिव की स्थापना करानी चाही, तो सब ब्राह्मणों ने यह कहकर मन्दिर में मूर्ति-स्थापना करने से इन्कार कर दिया कि रानी एक कैवर्त जाति में उत्पन्न हुई है, इसलिए कोई कुलीन ब्राह्मण उनके मन्दिर में मूर्ति स्थापना न कर सकेगा। रानी बड़ी निराश हुई। जब रामकुमार को यह समाचार ज्ञात हुआ

तो उन्होंने रानी को समझाया कि पण्डित लोग मिथ्याभिमान के कारण ऐसा कह रहे हैं; यदि आप अपने कुलगुरु के नाम पर इस मन्दिर को समर्पित कर दें तो कोई भी कुलीन ब्राह्मण मन्दिर में मूर्ति स्थापित कर सकेगा। रानी ने रामकुमार की बात स्वीकार करके मूर्ति-स्थापना का कार्य-भार उन्हीं पर डाल दिया। बड़े समारोह के साथ मूर्ति स्थापित की गई। गदाधर ने भी इस उत्सव में भाग लिया और बाद में इसी मन्दिर में रहकर काली माता की पूजा का कार्य-भार सँभाल लिया।

गदाधर बड़ी श्रद्धापूर्वक काली माता की पूजा करने लगे। उन्होंने काली माता के दर्शनों के लिए अनवरत साधना प्रारम्भ कर दी। वे काली माता की मूर्ति के चरण पकड़कर रोने लग जाते थे। कभी उनका आँचल पकड़कर कहते कि माँ मुझे दर्शन दो। पत्थर-प्रतिमा की पूजा से उन्हें शांति न मिलती थी, वे माता का प्रत्यक्ष दर्शन करना चाहते थे। कहते हैं, उनकी अनवरत साधना तथा अनन्य-प्रेम से प्रसन्न होकर काली माता ने उन्हें दर्शन दिये।

इसके पश्चात् उन्होंने दास्य-भाव से रामचन्द्र जी की उपासना आरम्भ की। हनुमान की भाँति वे राम की सेवा करते थे। कभी बंदरों की भाँति पेड़ों पर चढ़ जाते, एक डाली से दूसरी डाली पर जाते, फल तोड़-तोड़कर खाते और नीचे भी गिराते जाते। उनके इन कार्यों से लोगों को विस्मय हुआ करता था। अंत में अपनी इस दास्य भक्ति के कारण उन्हें रामचन्द्र जी के भी दर्शन हुए। ऐसा लोगों का विश्वास है।

उनकी माता को गाँव में जब उनकी इन ऊटपटाँग बातों की सूचना मिली, तो वे इनके दर्शनों के लिए अधीर हो उठीं। रामकुमार को संदेश भेजकर गदाधर को गाँव में बुलवाया और अपने प्रिय पुत्र से मिलकर वे बड़ी प्रसन्न हुईं। गाँव में आकर भी गदाधर की साधना निरन्तर चलती रही। वहाँ वे रात्रि के समय श्मशान-भूमि में जाकर

ईश्वर-ध्यान में मग्न हो जाते । उनकी ऐसी दशा देखकर माता ने उनका विवाह करने का निश्चय किया । गदाधर ने विवाह कराना स्वीकार न किया; किन्तु अन्त में माता के बहुत आग्रह करने पर उन्होंने माँ की आत्मा को सन्तुष्ट करने के लिए अपनी स्वीकृति दे दी । कुछ दिनों पश्चात् श्रीराम मुखोपाध्याय की गुणवती कन्या से इनका शुभ-विवाह संस्कार समारोहपूर्वक सम्पन्न हुआ ।

किन्तु विवाह हो जाने से गदाधर की तपश्चर्या में कोई अंतर नहीं आया । वे बराबर अपनी साधना करते रहे । कुछ दिन गाँव में रहने के पश्चात् वे पुनः दक्षिणेश्वर लौट आए और काली माता के मन्दिर में साधना करने लगे । कुछ समय पश्चात् एक संन्यासिनी से इनकी भेंट हुई । उसने इनको तन्त्र-शास्त्र की विधि के अनुसार तांत्रिक साधना की क्रिया बतलाई । अब गदाधर तांत्रिक साधना में तल्लीन हो गए । इसके पश्चात् उन्होंने वैष्णव मत की भिन्न-भिन्न शाखाओं के मतानुसार साधना की । अन्त में गदाधर की स्थिति श्री चैतन्य महाप्रभु के समान हो गई । किन्तु इन विभिन्न प्रकार की साधनाओं में भी उनको शांति नहीं मिली । सहसा उनको भेंट एक दिन तोतापुरी नामक संन्यासी से हुई । उन्होंने इनको शास्त्र-विधि के अनुसार संन्यास दिया और इनका नाम बदलकर रामकृष्ण परमहंस रखा । अब रामकृष्ण परमहंस ने शास्त्र-विधि से साधना प्रारम्भ की और तीन दिन की साधना में ही वे समाधि की उस ऊँची दशा को प्राप्त हो गए, जिसे निर्विकल्प कहते हैं । इसके पश्चात् भी उन्होंने विभिन्न धर्मों के मतानुसार साधना करके यही निष्कर्ष निकाला कि सभी धर्मों में ईश्वर एक ही है । केवल उसकी प्राप्ति के मार्ग भिन्न भिन्न हैं ।

जब श्री रामकृष्ण परमहंस को आत्म-ज्ञान अथवा ब्रह्म-ज्ञान की प्राप्ति हो चुकी थी, तो उन्होंने एकेश्वरवाद का प्रचार करना आरम्भ कर दिया । थोड़े ही दिनों में समस्त देश में उनकी प्रसिद्धि हो गई । दूर-दूर से लोग उनके दर्शनों को आते और उनका उपदेश सुनकर लाभ

उठाते। उन्हीं दिनों ब्रह्मसमाज के प्राण केशवचन्द्र सेन से आपका परिचय हुआ। वह आपके उपदेश सुनकर आपके अनन्य भक्त बन गए। बाबू केशवचंद्र सेन उन दिनों 'सुलभ समाचार' नाम का समाचार-पत्र निकालते थे। उन्होंने उस समाचार पत्र में श्री रामकृष्ण परमहंस के सम्बन्ध में लेख प्रकाशित किये और साथ ही परमहंस जी के उपदेश एवं व्याख्यान भी समाचार पत्र में प्रकाशित होने लगे। इससे आपकी ख्याति और भी अधिक हो गई। आपके उपदेशों ने देशभर में एक नवीन आलोक का प्रसार कर दिया। आपके उपदेशों ने हजारों नास्तिकों को आस्तिक बनाया। उन दिनों ईसाई-धर्म का प्रभाव बढ़ रहा था। अंग्रेजी शिक्षा के प्रभाव में आकर असंख्य नवयुवक ईसाई बन रहे थे, परमहंस जी के उपदेशों ने अनेक पथ-भ्रष्ट युवकों को ईसाई बनने से बचाया। इस प्रकार आपने अपने महान् तपोबल और उपदेशों द्वारा भारतीय संस्कृति और सभ्यता की रक्षा की। यही आपके जीवन का महान् कार्य था।

श्री रामकृष्ण परमहंस की शारीरिक और मानसिक प्रकृति अत्यन्त कोमल थी। न वे अधिक उष्णता सहन कर सकते थे, न अधिक शीत। एक बार अधिक सरदी लगने के कारण वे रुग्ण हो गए, उनका गला सूज गया और बढ़ते-बढ़ते एक बड़ा घाव हो गया। जब साधारण दवा-दारू से लाभ न हुआ तो उन्हें चिकित्सा के लिए कलकत्ता लाया गया। योग्यतम डॉक्टरों की चिकित्सा से भी उन्हें कोई लाभ न हुआ। बीमारी के दिनों में, जब डॉक्टरों ने उन्हें बोलने से मना कर दिया था तब भी वे अपना उपदेश देते रहते थे। उस समय वे अत्यन्त निर्बल हो गए थे, शरीर में अस्थियों के अतिरिक्त कुछ शेष न रहा। ऐसी अवस्था में भी वे समाधि लगाया करते थे। एक दिन श्रावण की पूर्णिमा को उन्होंने नित्य की भाँति समाधि लगाई, किन्तु उनकी वह समाधि अचल समाधि थी, जो आज तक भी न टूटी। उनकी महान् आत्मा नश्वर शरीर को त्यागकर परमात्मा में विलीन हो गई। उनकी मृत्यु का सारे

देश में शोक मनाया गया। आज केवल बंगाल ही नहीं अपितु समस्त भारत उनके उपदेशों में निर्दिष्ट मार्ग का अनुसरण करके अपने को धन्य समझ रहा है।

३

# स्वामी विवेकानन्द

भारतीय इतिहास के संक्रान्ति-काल में, इस पराजित जाति के अधः-पतन की चरमावस्था में संन्यास के महावीर्य का आश्रय लेकर जिन महा-पुरुषों ने धर्म, समाज और राष्ट्र में समष्टि-मुक्ति के महान् आदर्श को प्रति-ष्ठित किया है, उनके कार्य तथा उपदेशों का ऐतिहासिक महत्त्व इतने अल्प काल में हृदयंगम कर लेना बहुत ही कठिन है। समाज की श्रेणियों में जिस समय उच्च और नीच का भेद असहनीय हो उठता है, राजदण्ड जहाँ दुर्बलों को अन्यायपूर्वक व्यर्थ पीड़ित करता है, मानव-समाज में जिस समय धर्म की ग्लानि प्रकट होती है, अत्या-चारपूर्ण दुर्नीतियाँ जब शतशः रूप धारण करती हुई दीख पड़ती हैं, विनाश जब अवश्यम्भावी तथा निकट आ जाता है, तब पुरातन की जीर्ण मृतदेह को श्मशान-चिता में फूँककर उसी की राख-ढेरी पर नव-स्फुलिंग द्वारा फिर से एक नई सृष्टि का सूत्रपात होता दिखाई देता है। इसी नवनिर्माण के लिए स्वामी विवेकानन्द-जैसे महापुरुषों का प्रादुर्भाव

होता है।

स्वामी विवेकानन्द का जन्म १२ जनवरी, १८६३ को कलकत्ता में श्री विश्वनाथदत्त के घर में हुआ। उनकी माता भुवनेश्वरी देवी बड़ी धर्म-परायणा एवं प्राचीन-पंथी हिन्दू महिला थीं। श्री विश्वनाथ एक समृद्धिशाली तथा उदार-हृदय व्यक्ति थे। अतः सुख-ऐश्वर्य के आनन्द-प्रद वातावरण में विवेकानन्द का पालन-पोषण होने लगा। उनका बचपन का नाम नरेन्द्रनाथ था। बचपन में नरेन्द्र बड़े नटखट थे। कभी-कभी तो उनकी चंचलता के कारण उनके माता-पिता भी तंग आ जाते थे। किन्तु चंचल प्रवृत्ति का बालक होने पर भी उनके चरित्र में शैशव-काल ही से साधारण बालकों की अपेक्षा कुछ अधिक वैशिष्ट्य देखने में आता था। खेलते समय साधारण बात को लेकर जब कोई झगड़ता, तो वे बड़े असन्तुष्ट होते थे और अग्रसर होकर फैसला कर दिया करते थे।

हम ऊपर बता चुके हैं कि नरेन्द्र की माता बड़ी धर्म-परायणा तथा पूजा-पाठ में रत रहने वाली महिला थीं। बालक नरेन्द्र पर भी उनका प्रभाव पड़ना आवश्यक था। माता के मुख से रामायण और महा-भारत की कथाएँ सुनकर बाल्यावस्था में ही नरेन्द्र पहले सीताराम और बाद में शिव के परम भक्त हो गए थे। माता का अनुकरण करके वे प्रतिदिन शिव-पूजा करते थे। कभी पद्मासन में बैठकर ध्यान लगाते थे तो कभी अपने साथियों को बुलाकर सब मिलकर शिव-मूर्ति के चारों ओर घिरकर ध्यानस्थ होकर बैठते थे। साधुओं के दर्शन से वे बड़े प्रसन्न होते थे। उन्हें दान देने में तथा उनके उपदेश सुनने में उन्हें बड़ा आनन्द आता था। कभी-कभी माता से कहते—'माँ अगर मैं साधु हो जाऊँ, तो मुझे शिव भगवान् के दर्शन हो जायँगे?' माँ उनके मृदु स्वर से ऐसी बात सुनकर गद्‌गद् हो कण्ठ से लगा लेती। माता क्या जानती थी कि यही नरेन्द्र एक दिन संन्यासी होकर संसार का एक महान् मानव बनेगा।

५ वर्ष की अवस्था में घर पर नरेन्द्र की शिक्षा आरम्भ हुई। उन्होंने अपनी चंचलता और नटखटपन से अध्यापक महोदय को भी परेशान कर दिया था। प्राथमिक शिक्षा समाप्त होने पर नरेन्द्र 'मेट्रोपोलिटन इन्स्टिट्यूशन' में भेज दिये गए। यहाँ अपने समवयस्क सहपाठियों का साथ पाकर उनके आनन्द की सीमा न रही। नरेन्द्र पढ़ते-लिखते कम थे, खेलते-कूदते अधिक थे। फिर भी वे जो कुछ पढ़ते थे, उस पर गम्भीर विचार करते थे। तर्क-वितर्क करने में वे आरम्भ से ही निपुण थे। हिन्दू घरों में माने जाने वाले देशाचार तथा लोकाचार जैसे छोटे-छोटे नियमों को वे नहीं मानते थे। वे अपने माता-पिता से प्रश्न किया करते थे—'भात की थाली छूकर बदन पर हाथ लगाने से क्या होता है? बाएँ हाथ से जल-पात्र उठाकर जल पीने से हाथ क्यों धोना पड़ता है? हाथ में तो भला जूठा लगा नहीं?' आदि-आदि प्रश्नों का सन्तोषजनक उत्तर दे देने में कभी-कभी माता-पिता भी हतबुद्धि हो जाया करते थे।

दूसरों से सुनकर किसी भी बात पर विश्वास कर लेना नरेन्द्र के स्वभाव के विरुद्ध था। बचपन से ही किसी बात पर प्रत्यक्ष प्रमाण के बिना वे विश्वास करना नहीं जानते थे। युवावस्था में इसी भाव की प्रेरणा से नरेन्द्रनाथ पुस्तक में लिखे दार्शनिक तत्त्व की आलोचना से तृप्त न होकर सत्य की प्राप्ति के लिए साधना में प्रवृत्त हुए थे।

चौदह वर्ष की आयु में नरेन्द्र के पेट में रोग हुआ। निरन्तर कई दिनों तक रुग्ण रहकर उनका शरीर अस्थि-चरम-मात्र रह गया। उस समय विश्वनाथ अपने काम के सिलसिले में मध्यप्रदेश के अंतर्गत रायपुर में रहते थे। जलवायु-परिवर्तन से स्वास्थ्य की उन्नति होगी, इस आशा से उन्होंने अपने परिवार को रायपुर बुला लिया। १८७७ ई० में नरेन्द्र रायपुर में पिताजी के पास पहुँच गए।

रायपुर में उस समय स्कूल नहीं था। अतएव विश्वनाथ पुत्र को स्वयं शिक्षा देने लगे। पाठ्य-पुस्तकों के अतिरिक्त इतिहास, दर्शन

तथा साहित्य-सम्बन्धी अनेक पुस्तकें वे पुत्र को पढ़ाने लगे। पुत्र की विकासोन्मुख बुद्धि व प्रतिभा को भली-भाँति जानने के कारण विश्वनाथ ने नरेन्द्र की शिक्षा-पद्धति में कुछ परिवर्तन कर दिया। वे पुत्र के साथ अनेकानेक विषयों पर तर्क किया करते थे, और नरेन्द्र को स्वाधीन भाव से अपना मत प्रकट करने का अवसर देते थे। इधर नरेन्द्र भी पिता के ज्ञान की गम्भीरता से मुग्ध हो जाते। संसार में हमेशा ही श्रद्धावान् भक्त वांछित वस्तु को प्राप्त करते हैं। नरेन्द्र ने दो वर्ष तक पिता के पास रहकर केवल ज्ञान-लाभ ही नहीं किया, बल्कि उनके कैशोर चरित्र पर पिता की महानता की गम्भीर छाप भी पड़ी। तेजस्विता, दूसरों को दुःखी देखकर विकल होना, विपत्ति में धैर्य को न छोड़ते हुए निर्विकार चित्त से अपना कर्तव्य करते जाना नरेन्द्र ने अपने पिता से ही सीखा था। शिक्षा के साथ ही उन्होंने पिता के चरित्र की विशिष्टता को भी अपना लिया था।

दो वर्ष तक रायपुर में रहने के पश्चात् नरेन्द्र सोलह वर्ष की आयु में कलकत्ता लौट आए। उस समय उनके दीर्घ और बलिष्ठ शरीर को देखकर लोग उनकी आयु का अनुमान २० वर्ष तक लगाते थे। कलकत्ता में आकर वे पुनः 'मेट्रोपोलिटन इन्स्टिट्यूशन' की प्रवेशिका श्रेणी में भर्ती हुए। निरन्तर दो वर्ष तक गैरहाजिर रहने पर भी उन्होंने कड़े परिश्रम द्वारा दो वर्ष की शिक्षा एक ही वर्ष में समाप्त कर ली और परीक्षा में प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हुए। उनकी इस सफलता पर परिवार वालों के साथ-साथ स्कूल के अधिकारियों को भी विशेष रूप से प्रसन्नता हुई।

सन् १८७९ ई० में प्रवेशिका परीक्षा में उत्तीर्ण होकर नरेन्द्रनाथ ने कालिज की शिक्षा प्राप्त की। इस समय उन्होंने दर्शन-शास्त्र का गम्भीर अध्ययन किया। पाश्चात्य विज्ञान तथा दर्शन-शास्त्र-समूह का भी यथार्थ ज्ञान प्राप्त किया। डकार्ट का अहंवाद, ह्यूम व बेन की नास्तिकता, डार्विन का विकासवाद और स्पेन्सर का अज्ञेयवाद इत्यादि

विभिन्न दार्शनिकों की विचारधाराओं में इतस्ततः बहते हुए नरेन्द्रनाथ सत्य की प्राप्ति के लिए व्याकुल हो उठे। अशान्त मन की इसी प्यास को बुझाने के लिए वे ब्रह्म समाज में सम्मिलित हुए। किन्तु उनका स्वाभाविक वैराग्यशील मन ब्रह्म समाज में त्याग तथा ज्वलन्त धर्मनिष्ठ-बुद्धि की न्यूनता को देखकर उस समाज की प्रणाली-बद्ध उपासना से शान्त न हुआ।

१८८० ई० के नवम्बर मास में नरेन्द्रनाथ का परिचय श्री रामकृष्ण परमहंस से हुआ। नरेन्द्र को देखते ही परमहंस जी जान गए कि यह असाधारण युवक एक दिन संसार का महान् व्यक्ति बनेगा और सच्चे ज्ञान का प्रसार करके मानव-जाति का कल्याण करेगा। नरेन्द्र भी स्वामी जी के अलौकिक व्यक्तित्व, प्रेमपूर्ण व्यवहार तथा सदुपदेशों से प्रभावित हुए। उन्होंने दक्षिणेश्वर में परमहंस जी के पास आना-जाना आरम्भ कर दिया। परमहंस जी भी बड़ी श्रद्धा तथा प्रेम के साथ अपना उत्तराधिकारी तैयार करने लगे। नरेन्द्र की यह दशा देखकर उनके पिता ने उन्हें विवाह-बन्धन में बाँधने की भरपूर चेष्टा की, किन्तु नरेन्द्र ने विवाह कराने से साफ़ इन्कार कर दिया। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कह दिया—'ईश्वर-प्राप्ति ही मेरे जीवन का उद्देश्य है, मैं इसकी प्राप्ति के लिए प्राणों तक की आहुति दे दूँगा।'

प्रारम्भ में तो नरेन्द्र के मन में श्री रामकृष्ण परमहंस के उपदेशों एवं सिद्धान्त के प्रति अनेक भ्रम एवं संदिग्ध भावनाएँ उठती रहीं, किन्तु अन्त में वे पूर्ण रूप से उनके अनुयायी बन गए और दर्शन-शास्त्र तथा वेदान्त आदि का सूक्ष्म ज्ञान प्राप्त करके अनवरत साधना में लीन हो गए। यद्यपि उनके मार्ग में अनेक पारिवारिक एवं सामाजिक बाधाएँ उपस्थित हुईं तथापि वे अपनी साधना से विचलित न हुए। अन्त में पिता की मृत्यु से तो उनके जीवन में महान् परिवर्तन हो गया।

सन् १८१८ ई० को श्री रामकृष्ण परमहंस नरेन्द्र को संन्यास ग्रहण कराकर, अपनी दैवी शक्ति एवं अपार ज्ञान उसे देकर परलोक सिधार

गए। नरेन्द्र अब स्वामी विवेकानन्द के नाम से प्रख्यात हो गए। उन्होंने 'रामकृष्ण मिशन' की स्थापना करके अपने गुरुजी के सिद्धान्तों का प्रचार करना प्रारम्भ कर दिया। कुछ ही दिनों में समस्त देश में उनकी ख्याति फैल गई। स्वामी विवेकानन्द ने देश के समस्त तीर्थों एवं बड़े-बड़े नगरों का भ्रमण करके धर्म का प्रचार किया। वे अद्वैतवादी थे। उनके उपदेशों ने नास्तिकों को आस्तिक बनाया, पथ-भ्रष्टों को मार्ग दिखाया और धर्म-च्युत समाज ने एक बार पुनः धार्मिकता, आध्यात्मिकता तथा दार्शनिकता के शुचितर मार्ग को ग्रहण किया।

स्वामी विवेकानन्द के जीवन का महत्त्वपूर्ण कार्य है विदेशों में हिन्दू धर्म का प्रचार करके उसकी विशिष्टता की धाक जमाना। सन् १८९३ ई० में संयुक्त राष्ट्र अमरीका में शिकागो-सम्मेलन के साथ-साथ एक धर्म-सभा का आयोजन हुआ। ऐसा घोषित किया गया कि संसार के सभी धर्मों के प्रतिनिधिगण उसमें सम्मिलित होंगे। स्वामी जी के शिष्यों ने उन्हें धर्म के प्रतिनिधि के रूप में अमरीका भेजने का निश्चय किया। अन्त में खेतड़ी महाराज के प्रबन्ध से स्वामी जी ने, हिन्दू धर्म के सम्बन्ध में विदेशियों के भ्रमपूर्ण विश्वासों को दूर करके उसके उदार भावों का आधुनिक वैज्ञानिक युक्तियों द्वारा प्रचार करने के लिए, पाश्चात्य जड़वाद के उन्मत्त कोलाहल का मंथन करके त्याग की पवित्र वाणी सुनाने के लिए तथा भारत के श्रेष्ठतम आध्यात्मिक सत्य-रत्नों की जगत् की सभ्यता को परख करा देने के लिए ३१ मई, १८९३ ई० को भारत से 'शिकागो की ओर' प्रस्थान किया।

शिकागो में स्वामी जी के प्रथम व्याख्यान ने पाश्चात्य विद्वानों की आँखें खोल दीं। इसके पश्चात् तो उनके व्याख्यानों की झड़ी-सी लग गई। असंख्य अमरीकन जन-समूह बड़े उत्साहपूर्वक उनके उपदेश सुनने के लिए उमड़ पड़ता था। अमरीका के विभिन्न बड़े-बड़े नगरों में उनके व्याख्यान हुए। अमरीकन पत्र-पत्रिकाओं ने बड़े गौरव के साथ उनकी प्रशंसा एवं व्याख्यान प्रकाशित किए। अमरीका-

निवासियों ने प्रथम बार हिन्दू-धर्म के ज्योतिर्मय ज्ञान का दर्शन स्वामी विवेकानन्द से किया। बड़े-बड़े नगरों में उनके चित्र लटकाये गए। बहुत से युवक उनके अनुयायी बनकर उनसे दर्शन-शास्त्र की शिक्षा प्राप्त करने लगे। कतिपय पादरियों को हिन्दू-धर्म पर आस्था होने लगी। मि० स्नेल द्वारा उक्त महासभा के सम्बन्ध में प्रसिद्ध पत्रिका 'पायोनियर' में जो लेख प्रकाशित हुआ था, उसके एक अंश से ही हमें पता लग जायगा कि स्वामी जी ने पाश्चात्य समाज व धर्म के ऊपर कैसे असाधारण प्रभाव का विस्तार किया था—

"हिन्दू-धर्म ने इस महासभा व जन-साधारण के ऊपर जिस प्रभाव का विस्तार किया है, वैसा करने में कोई भी दूसरा धर्म-संघ समर्थ नहीं और हिन्दू-धर्म के एक-मात्र आदर्श प्रतिनिधि स्वामी विवेकानन्द ही इस महासभा के निर्विवाद रूप से अधिक लोकप्रिय व प्रतिभाशाली व्यक्ति हैं। उन्होंने इस धर्म महामण्डली के व्याख्यान-मंच पर तथा विज्ञान-शाखा की सभा में प्रायः भाषण दिए हैं। ईसाई अथवा अन्य किसी भी धर्म के व्याख्याता को किसी भी समय इस प्रकार के उत्साह के साथ आदर प्राप्त नहीं हुआ। वे जहाँ भी जाते थे, जनता की भीड़ उमड़ पड़ती थी और लोग उनकी प्रत्येक बात सुनने के लिए आग्रह के साथ उत्कण्ठित रहा करते थे। महासभा के बाद से ही वे संयुक्त राष्ट्र के प्रधान-प्रधान नगरों में विराट जन-समूह के समक्ष भाषण दे रहे हैं और सभी स्थानों पर वे विशेष रूप से आमन्त्रित हो रहे हैं। उन्हें ईसाई धर्म-मन्दिरों की वेदियों से भाषण देने के लिए अनेक बार बुलाया गया है। घोर कट्टर ईसाई भी उनके सम्बन्ध में कह रहे हैं, कि स्वामी जी मनुष्यों के बीच में 'अति-मानव' हैं।"

अमरीका के पश्चात् स्वामी जी को इंगलैंड में आमन्त्रित किया गया। वहाँ भी इनके व्याख्यानों ने एक पवित्र प्रेम की अजस्र धारा प्रवाहित कर दी। इंगलैंड के सभी प्रमुख नगरों में स्वामी जी के व्याख्यान हुए। वहाँ भी इन्हें अपूर्व आदर व सम्मान प्राप्त हुआ। इस

प्रकार निरन्तर चार वर्ष तक स्वामी जी ने पाश्चात्य देशों को अपने वाणी-अमृत से आप्लावित किया। आपके विरोधियों ने आपको निन्दित करने तथा प्रचार कार्य में बाधा डालने के लिए घृणित प्रचार भी किया, किन्तु उससे आपके कार्य और सम्मान में कुछ भी अन्तर नहीं पड़ा। आप सतत सिंह-विक्रम के साथ अपने आचार्य श्री रामकृष्ण परमहंस की मौलिक उपदेश-वाणी—'सभी धर्म सत्य हैं और वे ईश्वर की उपलब्धि के विभिन्न साधन-मात्र हैं'—का प्रचार संकीर्णता, कट्टरपन व घृणा के विरुद्ध करते रहे। स्वामी जी ने यह सिद्ध कर दिया कि आज भी पाश्चात्य जगत् को भारत के चरणों में बैठकर शिक्षा लेने की आवश्यकता है।

चार वर्षों तक पाश्चात्य देशों का भ्रमण करने के पश्चात् स्वामी विवेकानन्द भारत लौटे। भारतीय समुद्र-तट पर उतरते ही भारतवर्ष की जनता ने उनकी सादर अभ्यर्थना की। उनकी गैरिक पगड़ी द्वारा मण्डित मस्तक को देखते ही समुद्र-तट पर एकत्रित विराट जन-समूह आनन्द से जय-ध्वनि कर उठा। स्थान-स्थान पर उनके सम्मानार्थ सभाएँ करके उन्हें अभिनन्दन-पत्र भेंट किए गए। इसके पश्चात् उन्होंने भारत के गाँव-गाँव और नगर-नगर में भ्रमण करके जन-साधारण की सामाजिक व आर्थिक दुरवस्था का गम्भीर सहानुभूति के साथ निरीक्षण किया। उनकी ललकार समग्र देश में गूँज उठी—"भारत के दरिद्र, भारत के पतित, भारत के पापियों की सहायता करने वाला कोई मित्र नहीं है............राक्षसों की तरह निर्दयी समाज उन पर जो आघात करता चला आ रहा है, उनकी वेदना का अनुभव भली-भाँति कर रहे हैं। परन्तु वे नहीं जानते कि कहाँ से वह आघात चला आ रहा है। वे यह भी भूल गए हैं कि वे मनुष्य हैं और इसका परिणाम है—दासत्व व पशुत्व।

"............नर-नारी पवित्रता के अग्नि-मन्त्र में दीक्षित होकर, भगवान् में दृढ़ विश्वास रूपी कवच को धारण करके दरिद्र, पतित व पद-दलितों के प्रति सहानुभूति से उत्पन्न सिंह-विक्रम के साथ कमर

घूमकर समस्त भारत का भ्रमण करें। तथा मुक्ति, सेवा और समाज की उन्नति व समता के मङ्गलमय संदेश का घर-घर प्रचार करें।" इस प्रकार अपनी ओजस्वी ललकार के साथ उन्होंने भारत के सामाजिक एवं नैतिक जीवन में जो युग-परिवर्तन किया, वह सर्वथा सराहनीय है।

स्वामी विवेकानन्द ने साहित्य की भी उल्लेखनीय सेवा की है। उनके द्वारा लिखित 'वर्तमान भारत', 'परिव्राजक', 'भाववार कथा' (सोचने योग्य बात), प्राच्य और पाश्चात्य आदि ग्रन्थों ने जहाँ देश के सामाजिक तथा नैतिक जीवन में नव-चेतना का मंत्र फूँका, वहाँ उन्होंने साहित्य के भण्डार की भी अभिवृद्धि की है।

१९०१ ई० में स्वामी जी को रोग ने आ घेरा! उनका स्वास्थ्य खराब रहने लगा। किन्तु इस काल में भी वे अपना प्रचार-कार्य बराबर करते रहे। पर्याप्त चिकित्सा करने पर भी स्वास्थ्य में कोई सुधार न हुआ। अन्त में ४ जुलाई, १९०२ को अमावस्या की रात्रि को बैलूर मठ में उनका शरीरान्त हो गया। देश-भर में शोक की लहर दौड़ गई। विशेषकर बंग-भूमि तो चीत्कार कर उठी।

बंगाल के जीवन स्रोत में राजा राममोहन राय से लेकर अनेक तरंगों का उत्थान व पतन हुआ। शताब्दी के अन्त तथा प्रथम भाग में फिर वह एक तरंग का अभिघात! दक्षिणेश्वर में गंगा के पूर्वी तट पर प्रकट होकर बैलूर मठ में पश्चिमी तट पर विलय हुआ। इसके अप्रतिहत वेग से एटलांटिक की दुस्तर लवणाम्बुराशि की दोनों तट-भूमि प्रकम्पित, प्रतिध्वनित हैं! समझा गया—गंगा में स्रोत है और बंगाली नहीं मरे। परन्तु जो कुछ आँखों के सामने प्रकट हो उठता है और देखते-ही-देखते डूब जाता है, वह केवल वर्तमान में ही सीमित नहीं है, परन्तु इसका भूत व भविष्य हम सम्पूर्ण रूप से जान नहीं सकते। कौन कहेगा विवेकानन्द कहाँ से आये थे? उन्हें कौन लाया? और यह भी कौन कह सकता है, इस अभ्युदय की परिसमाप्ति कब, कितनी दूर और कहाँ होगी?

४
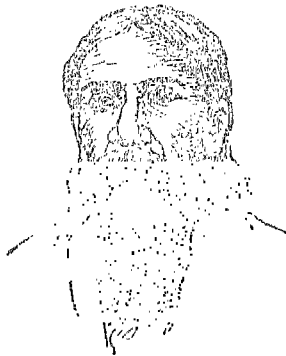
# योगिराज अरविन्द

योगिराज अरविन्द भारत की उन महान् विभूतियों में से हैं, जिन्होंने अपनी आध्यात्मिक शक्ति से राष्ट्र की सांस्कृतिक उन्नति को विशेष बल दिया है। एक युग था जब अरविन्द देश के राजनीतिक नेता थे और कालिज के प्रोफेसर। कौन जानता था कि विद्यार्थियों का यह शिक्षक एक दिन अखिल विश्व का शिक्षक बन जायगा। आज का व्यक्ति उसी अरविन्द घोष को जब योगिराज अरविन्द के रूप में सुनता है, तो उसकी समग्र चेतना सजग हो उठती है और वह उनके विषय में कुछ जानने का प्रयास करता है।

श्री अरविन्द का जन्म १५ अगस्त, सन् १८७२ ई० को हुआ था। इनके पिता डॉक्टर कृष्णधन घोष आई० सी० एस० पाश्चात्य सभ्यता के पूर्ण पक्षपाती थे। ७ वर्ष की अवस्था में ही उनके पिता ने उन्हें इंगलैंड भेज दिया था। प्रारम्भ में वहाँ वे एक अंग्रेज-परिवार के साथ रहे और बाद में सेण्टपाल स्कूल के छात्रावास में रहने लगे। प्रारम्भिक शिक्षा आपने सेण्टपाल स्कूल में ही प्राप्त की। १२ वर्ष की अवस्था में वे स्कॉलरशिप प्राप्त करके 'कैम्ब्रिज के किंग्स कालिज' में प्रविष्ट हो गए। वहाँ से दो वर्ष में 'सर्दपोस' नामक परीक्षा प्रथम

श्रेणी में पास की और यूनानी, लातीनी, जर्मन, इतालवी एवं फ्रेंच भाषा में विशेष योग्यता प्राप्त कर ली। आई० सी० एस० की परीक्षा भी आपने पास कर ली थी, किन्तु किसी व्यक्तिगत अज्ञात कारण-वश उन्होंने उसके अन्तिम विषय में भाग नहीं लिया, इसलिए उन्हें आई० सी० एस० की उपाधि न मिली। वहाँ रहते हुए उनका बड़ौदा-नरेश से परिचय हो गया। वे उनकी योग्यता से बहुत प्रभावित हुए और उन्हें राज्य-सेवा के लिए अपने पास रख लिया।

सन् १८९३ ई० में अरविन्द विलायत से स्वदेश लौट आए। राज्य-सेवा के कार्य के पश्चात् वे बड़ौदा-कालिज में प्रोफेसर तथा वाइस प्रिंसिपल नियुक्त किये गए। वहाँ रहते हुए उन्होंने भारतीय साहित्य का गम्भीर अध्ययन किया और संस्कृत का भी पांडित्य प्राप्त कर लिया। वे मेधावी तो थे ही, अतः शीघ्र ही दर्शन तथा पुराणों के भाव को हृदयंगम कर लिया। उनकी आध्यात्मिक साधना व तपस्या प्रकट रूप से यहीं से आरम्भ होती है।

बड़ौदा में रहते समय ही इनका विवाह सुश्री मृणालिनी से हो गया था। इन्होंने अपनी पत्नी को जो पत्र लिखे हैं, उनसे अरविन्द के हृदय की वास्तविक झलक मिलती है और यह ज्ञात होता है कि वे आरम्भ से ही कितने अधिक निस्पृह थे। एक पत्र में उन्होंने अपनी पत्नी को लिखा था—'मुझ में तीन तरह के पागलपन हैं—प्रथम मैं मानता हूँ कि संसार की सारी सम्पत्ति प्रभु की है और उसे प्रभु के कार्य में लगाना चाहिए। दूसरा पागलपन यह है कि चाहे जैसा हो, मैं भगवान् का साक्षात् दर्शन प्राप्त करना चाहता हूँ, और तीसरा पागल-पन यह है कि मैं अपने देश की नदियों, पहाड़ों, भूमि एवं जंगलों को एक भौगोलिक सत्ता-मात्र नहीं मानता। मैं इन्हें माता मानता हूँ और इनकी पूजा करता हूँ।'

बंग-भंग के विप्लवकारी दिनों में श्री अरविन्द बड़ौदा की नौकरी छोड़कर नाम-मात्र के वेतन पर कलकत्ता के नेशनल कालिज में प्रिंसिपल

होकर चले गए। फिर उन्होंने 'वन्दे मातरम्' नाम से एक पत्र निकाला। 'वन्दे मातरम्' में प्रकाशित एक लेख के सम्बन्ध में उन पर भारत-सरकार द्वारा अभियोग चलाया गया और वे एक वर्ष तक जेल में रहे। इस कारागार का परिणाम परम कल्याणकारी ही सिद्ध हुआ। उन्होंने स्वयं लिखा है—'ब्रिटिश सरकार के कोप ने मेरा भला ही किया। इसके फलस्वरूप मुझे ईश्वर मिला।' इस सम्बन्ध में उनका उत्तरपाड़ा वाला भाषण एक ऐतिहासिक वस्तु है।

श्री अरविन्द ही वे पहले व्यक्ति थे जिन्होंने सारी स्वाधीनता का भारत का राजनीतिक ध्येय घोषित किया था। और सार्वजनिक रूप से निर्भीकता के साथ उसका प्रचार किया। उन दिनों आपके दो अंग्रेज़ी पत्र 'वन्दे मातरम्' और 'कर्मयोगिनी' प्रकाशित होते थे। 'कर्मयोगिनी' की प्रसिद्ध लेख-माला 'कर्मयोगी का आदर्श' में उन्होंने एक जगह लिखा था—

'ये चीजें भी पर्याप्त हो सकती थीं यदि हमारी भवितव्यता अन्तिम तौर पर यही होती कि हमें ब्रिटिश साम्राज्य का एक दूरस्थ प्रान्त या यूरोपियन सभ्यता का पुछल्ला-मात्र बनकर ही रहना है'''भारत के भाग्य में तो लिखा है कि वह अपने स्वतन्त्र जीवन और सभ्यता का निर्माण करे और संसार का अग्रणी बनकर खड़ा हो'''।' वास्तव में भारत की पूर्ण स्वाधीनता के लिए ही अरविन्द सतत प्रयत्नशील रहे हैं। बाह्य प्रयत्न ही तो सब-कुछ नहीं होते। इस विषय में उनकी एक विशाल दृष्टि रही है, एक बृहत् अथक् अगोचर क्रिया है, जिसे उनके अधिक निकटवर्ती कुछ ही लोगों ने जान पाया है। यही कारण है कि देश को तैयार करने के लिए वे आन्तरिक जगत् की ओर बढ़े; वहाँ से देश में प्रेरणा एवं चेतना का विकास करने में लग गए, जिससे कि पूर्ण परिवर्तन या रूपान्तर हो सके। वे नेपथ्य में अपना कार्य करते रहे हैं।

४ मार्च, १९१० ई० को श्री अरविन्द पांडिचेरी में आ गए। कांग्रेस

ने उनको प्रधान-पद के लिए आमंत्रित किया, परन्तु वे दिव्य ध्येय की प्राप्ति के लिए अखंड साधना में लीन हो गए। इनके अन्तर्मन ने इन्हें बताया कि भारत का उज्ज्वलतम भविष्य सत्य-सनातन आध्यात्मिकता में ही है और इसी बल पर वह सच्ची स्वतन्त्रता प्राप्त कर सकता है। बाद में सामाजिक तथा राजनीतिक आदि सब बातें उनकी बढ़ती हुई आध्यात्मिकता में मिलकर एक हो गईं।

श्री अरविन्द को पांडिचेरी में रहते हुए आज ३८ वर्ष व्यतीत हो चुके हैं। उनका चलाया हुआ आश्रम आज तक एक विशाल रूप धारण कर चुका है। इनके आश्रम में 'श्री माँ' का विशेष स्थान है। वे एक फ्रांसीसी महिला हैं। जन्म से फ्रांसीसी होते हुए भी उन्होंने भारत के लिए क्या कुछ नहीं किया। श्री अरविन्द के पांडिचेरी आने के कुछ ही वर्ष पश्चात् श्री माता जी वहाँ पधारीं और अब वे ही आश्रम की सूत्र-संचालिका अधिष्ठात्री माँ हैं। उनमें दिव्य शक्ति, प्रीति, ज्ञान और महिमा की अपूर्व परिणति है और वहाँ जाने वाले प्रत्येक व्यक्ति को माँ की प्रीति और वात्सल्यपूर्ण स्नेह का अलौकिक अनुभव प्राप्त होता है। आश्रम के समस्त कार्य माँ की ही देख-रेख में सम्पन्न होते हैं और उन्हीं की आज्ञा को प्रसन्नता से स्वीकार करके साधकगण विकास को प्राप्त हो रहे हैं।

इनके आश्रम की उत्पत्ति के बारे में कहा जाता है कि प्रारम्भ में वे पांडिचेरी में अपने गृह में कई सहवासी शिष्यों को साथ लेकर रहते थे। बाद में कुछ और सम्मिलित हुए। १९२० में जब श्री माता जी सम्मिलित हुईं तब शिष्यों की संख्या इतनी बढ़ गई कि उनके रहन के प्रबन्ध के लिए और कई मकान खरीदे गए। इस प्रकार उनके आश्रम की स्थापना हुई। यह आश्रम न तो साधारण गोष्ठी के समान है, और न यहाँ कोई समिति है। इनकी न कोई शासक-मण्डली है न कमेटी, न ही यहाँ कोई राजनीतिक संस्था है। आश्रमवासियों का सब प्रकार के प्रचार-कार्य से, राजनीतिक अथवा सामाजिक जीवन से पृथक् रहना

पड़ता है। आश्रम एक धर्म-संघ भी नहीं है, यहाँ के निवासी विभिन्न धर्मों व समाज से आये हैं। यहां केवल अरविन्द की शिक्षाएँ हैं और मनः संयम तथा ध्यान प्रभृति कम अन्तः करणिक क्रियाएँ होती हैं। इन क्रियाओं का उद्देश्य है—चेतना का प्रसारण, सत्य का ग्रहण और साधारण वासनाओं पर विजय और प्रत्येक मनुष्य का अन्तर्निहित भगवत् सत्ता और चेतना का आविष्कार तथा मानव-प्रकृति का एक उच्चतर विकास।

यदि श्री अरविन्द राजनीतिक क्षेत्र से विरक्त न होते तो आज देश के उच्चकोटि के राजनीतिक नेता होते, राजनीति के सम्बन्ध में की गई उनकी वर्षों पूर्व की भविष्यवाणियाँ आज अक्षरशः सत्य हो रही हैं। किन्तु उन्हें तो अध्यात्मवाद की दिव्यशक्ति द्वारा राष्ट्र का विकास एवं सेवा करनी अभीष्ट थी। श्री अरविन्द ने अपने निरन्तर चिन्तन तथा सतत साधना से वह दिव्य शक्ति प्राप्त कर ली है, जिसके द्वारा वे आन्तरिक रूप से देश-सेवा का महान् कार्य कर रहे थे। खेद है कि पिछले दिनों थोड़ी-सी बीमारी के बाद उनका देहान्त हो गया। वे देश के राजनीतिक, सामाजिक एवं सार्वजनिक जीवन से पृथक् रहते हुए भी उसके साथ थे। उनकी सम्पूर्ण साधना और तपस्या देश के लिए ही होती थी। इसमें कोई सन्देह नहीं कि वे आज के भारत की एक महान् विभूति थे।

५

# आचार्य विनोबा भावे

संसार में ऐसे बहुत कम व्यक्ति हैं, जिन्होंने अपनी ख्याति की परवाह न करके लोक-सेवा को अपने जीवन का मुख्य उद्देश्य बनाया है। गांधी जी के महान् व्यक्तित्व एवं अलौकिक प्रभाव ने भारत के जितने व्यक्तियों को महानता प्रदान की है, उनमें श्री विनोबा भावे का सर्वोच्च स्थान है। वे गांधी-युग की अनुपम देन हैं। गांधी जी के रचनात्मक कार्यों के पीछे उनकी शक्ति प्रकट रूप से लगी रहती है। उनके जीवन को देखकर हमें अनायास ही भारत के प्राचीन ऋषि-मुनियों का स्मरण हो आता है। वे सरलता की प्रतिमूर्ति, गम्भीरता के सागर, दया के भण्डार तथा सत्य और अहिंसा के सच्चे पुजारी हैं। ऊपर से देखने से आपको उनका स्वभाव रूखा एवं शुष्क जान पड़ सकता है, किन्तु उनकी जीवन-कहानी को जानने से ज्ञात होगा कि उनकी बाह्य शुष्कता के पीछे कितनी भावना और तपस्या निहित है।

विनोबा जी का जन्म बम्बई के कोलाबा जिले के अन्तर्गत गगोदे नामक ग्राम में हुआ था, किन्तु उनके पिता प्रोफेसर गजर द्वारा संचालित 'कला-भवन' में उद्योग सीखने के लिए बड़ौदा चले गए थे। विनोबा

की प्रारम्भिक शिक्षा पिता के पास बड़ौदा में ही हुई। कई वर्ष तक तो वे घर पर ही पिता से शिक्षा ग्रहण करते रहे। बाद में वे एक विद्यालय में प्रविष्ट हुए। उनके पिताजी की इच्छा थी कि किसी वे उद्योग में प्रवीण बन जाएँ। इसलिए विनोबा जी का चित्रकला का विशेष अभ्यास कराया गया।

उन दिनों भारत में राष्ट्रीय चेतना की एक नवीन लहर दौड़ रही थी। बंग-भंग-आन्दोलन के पश्चात् महाराष्ट्र के युवकों में भी विशेष उत्तेजना और हलचल उत्पन्न हो रही थी। सब युवक सोचते थे कि जिस प्रकार समर्थ गुरु रामदास जी ने ब्रह्मचारी रहकर शिवाजी के द्वारा देश-सेवा की थी, उसी प्रकार वे भी अपना जीवन देश की उन्नति के लिए क्यों न समर्पित कर दें। बंग-भंग-आन्दोलन का विनोबा जी पर भी विशेष प्रभाव पड़ा और उन्होंने बाल-ब्रह्मचारी रहने का व्रत धारण कर लिया। आज तक उन्होंने इस व्रत को पूर्ण रूप से निभाया है।

हम पहले बता चुके हैं कि वह राजनीतिक चेतना का उषा-काल था और देश में एक नवीन जागृति अँगड़ाई ले रही थी, अतः विनोबा जी का राजनीति की ओर प्रभावित होना स्वाभाविक ही था। प्रारम्भ में विनोबा जी उग्र विचारों के थे; उनके मन में प्रायः क्रान्तिकारी भावनाएँ उठा करती थीं। फलस्वरूप विशेषकर वे लोकमान्य तिलक की विचार-धारा से प्रभावित हुए। उधर पिताजी उन्हें उच्च शिक्षा प्राप्त कराकर किसी कला में पारंगत कराने की चेष्टा कर रहे थे, किन्तु विनोबा जी में दिन-दिन धार्मिक एवं आध्यात्मिक भावनाएँ जोर पकड़ती जा रही थीं और उनके मन में साधारण शिक्षा और सांसारिक बातों के प्रति अरुचि उत्पन्न होती जा रही थी। मराठी-साहित्य और धार्मिक अध्ययन की ओर उनकी प्रवृत्ति बढ़ती जा रही थी। प्रारम्भ में उन्होंने संस्कृत का अध्ययन नहीं किया था; उसके स्थान में फ्रेंच भाषा का ज्ञान प्राप्त किया। किन्तु बाद में मराठी-साहित्य से अच्छा परिचय होने के कारण

संस्कृत के अध्ययन में कोई कठिनाई नहीं हुई। जब आपको लोकमान्य तिलक के गीता-रहस्य के प्रकाशन की सूचना मिली तो उसका स्वागत करने के लिए आप गीता के अध्ययन में लग गए और उसके द्वारा संस्कृत के भी पंडित बन गए।

गीता-अध्ययन के पश्चात् विनोबा जी की आध्यात्मिक प्रवृत्ति उत्तरोत्तर बढ़ती गई, किन्तु आपके मन में शांति न थी। आपका विचार था कि घर पर रहकर पर्याप्त अध्ययन एवं मनन असम्भव है। अतः आपने घर छोड़ने का निश्चय कर लिया। जब विनोबा जी इण्टरमीजिएट की परीक्षा देने के लिए बड़ौदा से बम्बई आये, तब परीक्षा में न बैठकर चुपचाप काशी भाग गए। काशी में उन्होंने कुछ दिनों तक संस्कृत के ग्रन्थों का अध्ययन किया। यहाँ उन्हें अनेक कष्ट सहन करने पड़े। किन्तु तब भी उन्हें आन्तरिक शांति प्राप्त नहीं हुई। विनोबा जी संन्यासी बनकर हिमालय नहीं जाना चाहते थे, वरन् उनके मन में देश-सेवा के लिए कोई ठोस और रचनात्मक कार्य करने की प्रबल इच्छा थी।

उन्हीं दिनों गांधी जी दक्षिण अफ्रीका से भारत लौटे और उन्होंने साबरमती-आश्रम की स्थापना की। विनोबा जी तथा गांधी जी के विचारों में बहुत कुछ साम्य था। उन्होंने गांधी जी के आश्रम में प्रवेश करने का निश्चय किया और इसके लिए गांधी जी से पत्र-व्यवहार किया। गांधी जी का उत्तर आने के पूर्व ही वे साबरमती जा पहुँचे और उन्हें आश्रम में आश्रय मिल गया। प्रारम्भ में उनकी ओर किसी ने विशेष ध्यान नहीं दिया। उनका स्वास्थ्य भी यहाँ आकर गिरने लगा। आश्रम के नियम बड़े कठोर थे; उनके लिए शारीरिक श्रम भी आवश्यक था। विनोबा जी को पानी खींचने का कार्य मिला, जिसे उन्होंने बड़ी तत्परता और संलग्नता से किया। उनका परिश्रम देखकर गांधी जी भी आश्चर्यान्वित हुए। उन्होंने एक दिन विनोबा जी से पूछा—'तुम्हारा शरीर तो बहुत अस्वस्थ है, फिर भी तुम इतना श्रम किस

प्रकार कर लेते हो?' उत्तर मिला—'आत्मा तो बलवान हो सकती है।' इस उत्तर से गांधी जी ने समझ लिया कि विनोबा एक असाधारण व्यक्ति हैं। फिर तो गांधी जी से उनका सम्पर्क बढ़ता ही गया। कुछ ही दिनों में विनोबा जी की गणना साबरमती आश्रम के प्रमुख व्यक्तियों में होने लगी।

नागपुर-कांग्रेस के पश्चात् वर्धा में एक सत्याग्रह-आश्रम खोला गया। गांधी जी ने उसका संचालन करने के लिए विनोबा जी को नियुक्त किया। विनोबा जी ने बड़ी योग्यतापूर्वक वहाँ अपने कर्त्तव्य-पालन का परिचय दिया। १६२१ से विनोबा जी वर्धा-आश्रम में रहने लगे और १६२२ में जब यह आश्रम बंद हो गया, तो उन्होंने वर्धा शहर से डेढ़ मील की दूरी पर, नालवाड़ी नामक ग्राम में अपनी झोंपड़ी बनाकर रहना प्रारम्भ कर दिया। विनोबा जी देश की उन्नति के लिए 'राजनीतिक स्वतंत्रता' को बहुत आवश्यक समझते थे। उनका विश्वास था कि ग्रामीण जनता को रचनात्मक कार्यक्रम के बिना आज़ादी नहीं मिल सकती और रचनात्मक कार्यक्रम का केन्द्र-बिंदु है—खादी। विनोबा जी ने वहाँ खादी का एक केन्द्र खोला और आस-पास गाँवों में जाकर खादी तथा चर्खे का प्रचार किया। उन्होंने चर्खे और तकली को अधिक उपयोगी बनाने के वहाँ बहुत-से प्रयोग किये। फलतः खादी-शास्त्र के विकास का श्रेय उन्हीं को है।

विनोबा जी का जीवन आध्यात्मिकता से ओत-प्रोत है। गीता के तत्त्वों को न केवल उन्होंने स्वयं समझकर दूसरों को समझाया है, प्रत्युत उन तत्त्वों को सफलतापूर्वक व्यवहार में लाकर दिखा दिया है। गांधी जी के सिद्धान्तों को जितना उन्होंने समझा है, शायद ही किसी अन्य ने समझा हो। उनके विचार मौलिक और मार्मिक हैं। वे प्रत्येक स्पष्ट और सुव्यवस्थित विचार को ही जनता के सामने रखते हैं। उनके मस्तिष्क में व्यावहारिकता भी कूट-कूटकर भरी है, इसीलिए उन्होंने खादी के ठोस कार्य में सफलता प्राप्त की है। वर्धा-शिक्षा-योजना के

पीछे विनोबा जी का व्यावहारिक और सक्रिय ज्ञान दिया हुआ है। उद्योग द्वारा शिक्षा देने का कार्य विनोबा जी के लिए कोई नवीन नहीं था, वे तो इस पद्धति को स्वाभाविक रूप से व्यवहार में ला रहे थे। खादी-शास्त्र में वे इतने लीन हो गए हैं कि उसी के द्वारा प्रत्येक विद्या का स्रोत निकाल सकते हैं। उनकी प्रखर बुद्धि ही के कारण वर्धा-शिक्षण योजना आज इतने विस्तृत रूप से देश के सम्मुख रखी जा सकी है।

विनोबा जी एक आदर्श शिक्षक और लेखक भी हैं। उनके मराठी लेखों का संग्रह 'मधुकर' नाम से प्रकाशित हुआ था। उनके लेख प्रत्येक भाषा के साहित्य का गौरव बढ़ा सकते हैं। विनोबा जी ने एक सूत्र बनाया है—सेवा व्यक्ति की, भक्ति समाज की। उनका कथन है कि व्यक्ति की भक्ति से आसक्ति बढ़ती है, इसीलिए भक्ति समाज की करनी चाहिए। यदि कोई समाज की सेवा करना चाहे, तो कुछ भी नहीं हो सकता। समाज तो एक कल्पना मात्र है। कल्पना की हम सेवा नहीं कर सकते। माता की सेवा करने वाला पुत्र दुनिया की सेवा कर सकता है, यही मेरी धारणा है।

ग्रामीण जनता के सम्बन्ध में विनोबा जी का कहना है—'हमें ग्रामीणों के सामने ग्राम-सेवा की कल्पना को रखना चाहिए, न कि राष्ट्र धर्म की। उनके आगे राष्ट्र-धर्म की बातें करने से काम न होगा। ग्राम-धर्म उनके लिए जितना स्वाभाविक और सरल है, उतना राष्ट्र-धर्म नहीं; इसमें भी यही बात है, जो व्यक्ति-सेवा के सम्बन्ध में है। ग्राम-धर्म सगुण, साकार और प्रत्यक्ष होता है। राष्ट्र-धर्म निर्गुण, निराकार और परोक्ष होता है। बच्चे के लिए त्याग करना माँ को सिखाना नहीं पड़ता।'

आचार्य विनोबा निष्ठापूर्ण ब्रह्मचारी तथा प्रखर विद्वान् हैं। उन्होंने सादगी को वरण किया है। एक निश्चय करके एक तत्त्व ग्रहण करना और उसका उसी क्षण अनुसरण करना उनका प्रधान गुण है। उनका दूसरा प्रधान गुण निरन्तर विकासशीलता है। शायद ही हम में से

ऐसा कोई हो, जो कह सके कि मैं प्रतिक्षण विकास कर रहा हूँ। गांधी जी के अतिरिक्त अभी तक इन गुणों का विकास बहुत कम व्यक्तियों में हुआ है।

गांधी जी की मृत्यु के पश्चात् उनके अधूरे कार्यों को पूरा करने का आपने व्रत ले लिया है। गांधी जी के रचनात्मक कार्यों की पूर्ति और उनके सिद्धान्तों का प्रचार करना ही अब उनके जीवन का ध्येय बन गया है। गांधी जी की सामूहिक प्रार्थना का क्रम अब विनोबा जी ही चला रहे हैं। इधर कुछ दिन से आपने 'भूमिदान यज्ञ' नाम से देश में एक ऐसा आन्दोलन चलाया है, जिसमें वे भूमि-हीन व्यक्तियों के लिए देश के कोने-कोने में घूमकर भूमि प्राप्त कर रहे हैं और देश की जनता ने उन्हें इस कार्य में पर्याप्त सहयोग भी दिया है। गांधी जी की मृत्यु के पश्चात् आज देश को विनोबा जी से बड़ी-बड़ी आशाएँ हैं। आज वे ही बापू के एक मात्र सच्चे अनुयायी हैं। आश्चर्य नहीं कि कुछ समय पश्चात् जनता गांधी जी का प्रतिरूप विनोबा जी में नि रने लगे।

६

# सर्वपल्ली राधाकृष्णन्

विज्ञानवाद के इस युग में, जब कि जीवन के भौतिक उपकरणों ने मानव-आत्मा को बुरी तरह जकड़ रखा है, तथा जब विश्व चिरंतन सत्य की खोज में भारत की ओर निहार रहा है, तब सर्वपल्ली राधाकृष्णन् ने भारत की आध्यात्मिक एवं दार्शनिक विचार-पद्धति को अक्षुण्ण बनाये रखने का महान् कार्य किया है। डॉक्टर राधाकृष्णन् उन इने-गिने व्यक्तियों में से हैं, जिनकी प्रकाण्ड विद्वत्ता ने उनकी मौलिकता को घटाने के बजाय सोने में सुहागे की भाँति उसे और उज्वल बनाया है। भारतीय संस्कृति और दर्शन के वे सर्वश्रेष्ठ आचार्य हैं। अपनी विद्वत्ता तथा प्रतिभा से उन्होंने कई बार पाश्चात्य विद्वानों को प्रभावित किया है और साथ ही स्वामी विवेकानन्द तथा रामकृष्ण परमहंस की उस परम्परा को भी प्रचलित रखा है, जिसने पहले भी एक बार पश्चिम को पूर्व की ओर निहारने के लिए बाध्य किया था। अपने ग्रन्थों एवं असंख्य भाषणों द्वारा उन्होंने भारतीय दर्शन एवं संस्कृति का डंका संसार में बजा दिया है। विवेकानन्द और रवीन्द्रनाथ के पश्चात् भारत के सांस्कृतिक तथा आध्यात्मिक यश को बढ़ाने में आपका ही प्रमुख हाथ है।

डॉ० राधाकृष्णन् का जन्म मद्रास के चित्तूर ज़िले के अन्तर्गत तिरुतनी नामक ग्राम में ५ सितम्बर, १८८८ ई० को एक साधारण ब्राह्मण-परिवार में हुआ था। तिरुतनी ग्राम प्रारम्भ से ही हिन्दुओं का तीर्थ-स्थान तथा शैव-भक्तों का उपासना-केन्द्र रहा है। इसी कारण उनकी विचारधारा शैव-तत्त्वों की ओर किंचित् प्रभावित हुई तथा धर्म के बाह्य रूप के अतिरिक्त धर्म के वास्तविक अर्थ 'चिरन्तन सत्य' की प्राप्ति के लिए वह प्रयत्नशील रहने लगे।

जिस समय श्री राधाकृष्णन् का जन्म हुआ, उस समय देश में, १८५७ के स्वातन्त्र्य-संग्राम की असफलता के कारण खीझ, निराशा तथा अकर्मण्यता का वातावरण व्याप्त था और साथ ही मैकाले की कूटनीति-पूर्ण योजना के अन्तर्गत देश का नवशिक्षित समुदाय पश्चिमी विचार-धारा की ओर प्रभावित हो रहा था। लोग भारतीय सभ्यता को हेय समझने लगे थे। इधर ईसाई-धर्म के प्रचारक अशिक्षित जनता को पथ-भ्रष्ट कर रहे थे। उसी समय स्वामी रामकृष्ण परमहंस तथा विवेकानन्द शिक्षित जन-समुदाय को भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता की ओर मोड़ रहे थे। १० वर्ष की अवस्था में ही श्री राधाकृष्णन् ने स्वामी विवेका-नन्द के विचारों को समझने का प्रयास प्रारम्भ कर दिया था। यहीं से उनकी वास्तविक शिक्षा का श्रीगणेश हुआ।

श्री राधाकृष्णन् ने प्रारम्भिक शिक्षा ईसाई-मिशनरी-स्कूल में प्राप्त की। वहाँ जब ईसाई-प्रचारक भारतीय सभ्यता पर आक्षेप करते थे, तो उनके मस्तिष्क में तीव्र प्रतिक्रिया होती थी। परिणामस्वरूप उनके विचारों में दृढ़ता एवं स्थिरता आती गई तथा उनकी रुचि भारतीय संस्कृति के गम्भीर अध्ययन की ओर बढ़ती गई। १९०३ ई० में उन्होंने मैट्रिक की परीक्षा पास की। इसके पश्चात् १९०५ में इण्टरमीडिएट परीक्षा में प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हुए। इस प्रकार शिक्षा-पथ पर अग्रसर होते हुए उन्होंने मद्रास-क्रिश्चियन कालिज से एम० ए० की डिग्री प्राप्त की। प्रारम्भ से ही आपकी रुचि संस्कृत भाषा तथा भारतीय दर्शन-शास्त्र के प्रति थी।

आपका पुस्तकीय ज्ञान इतना अपार था कि आपके मित्र आपको 'वाकिंग एनसाइक्लोपीडिया' अर्थात् 'चलता-फिरता विश्व-कोष' कहा करते थे। उन दिनों आपने 'वेदान्त में आचार-नीति' शीर्षक से एक ओजपूर्ण निबन्ध लिखा था, जिसकी देश-विदेशों के सब पत्रों में भूरि-भूरि प्रशंसा की गई थी।

स्वामी रामतीर्थ की भाँति श्री राधाकृष्णन् का प्रारम्भ से यही विश्वास रहा है कि दर्शन कोई सूक्ष्म अव्यावहारिक वस्तु नहीं है, अपितु यह सार्वजनिक जीवन का ही एक अंग है। इस सत्य को उन्होंने सार्वजनिक जीवन में अपने व्यवहार से पूर्णतः चरितार्थ कर दिखाया। एम० ए० की परीक्षा पास करने के पश्चात् आप 'मद्रास प्रेसीडेन्सी कालिज' में दर्शन-शास्त्र के प्रोफेसर नियुक्त किये गए। आपने अपनी विलक्षण प्रतिभा तथा शिक्षा-पद्धति से दर्शन जैसे नीरस और क्लिष्ट विषय को भी सरस तथा सरल कर दिखाया। जून १९२६ में इंगलैंड के 'कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय' में ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत विश्वविद्यालयों का एक सम्मेलन हुआ। श्री राधाकृष्णन् उसमें भारतीय प्रतिनिधि के रूप में सम्मिलित हुए। इंगलैंड में आपने अनेक स्थानों पर आध्यात्मिक विषयों पर भाषण दिये, इससे आपकी अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति और भी बढ़ गई। तत्पश्चात् आप अमरीका के हार्वर्ड-विश्वविद्यालय के अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन में भाग लेने गए। वहाँ आपने जो भाषण दिए, उनका संग्रह 'फ्यूचर ऑफ सिविलाइजेशन' ( सभ्यता का भविष्य ) के नाम से प्रकाशित हुआ।

अब समस्त यूरोप में राधाकृष्णन् की ख्याति फैल चुकी थी। अमरीका से लौटने के पश्चात् आप इंगलैंड के 'ऑक्सफोर्ड-विश्वविद्यालय' में दर्शन के शिक्षक नियुक्त किये गए। यह पहला अवसर था, जब एशिया, विशेषतया भारत के विद्वान् को इंगलैंड में इतना सम्मान प्राप्त हुआ था। कुछ समय इंगलैंड में रहने के पश्चात् आप भारत लौट आए। १९११ में उन्हें 'काशी-विश्वविद्यालय' में 'उपकुलपति' का सम्मानपूर्ण पद प्रदान किया गया, किन्तु महामना मालवीय जी की मृत्यु

के पश्चात् उन्होंने उक्त पद से त्याग-पत्र दे दिया।

श्री राधाकृष्णन् ने भारतीय दर्शन तथा अन्य विषयों पर बहुत सी पुस्तकें लिखी हैं। आपके ग्रन्थों का पाश्चात्य देशों में विशेष प्रचार है। 'रवि ठाकुर का दर्शन', 'आज के दर्शन पर धर्मों का प्रभाव', 'वेदान्त का इतिहास', 'हिन्दुओं का जीवन-दर्शन' तथा 'कल्पित संस्कृति का भविष्य' आपके प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। आपनी पुस्तकों में और विशेषतः 'वेदान्त का इतिहास' में आपने प्रमाणपूर्वक यह सिद्ध किया है कि यूनान के दर्शन पर प्राचीन भारतीय दर्शन का गहरा प्रभाव है। अरस्तू और अफलातून-जैसे तत्त्ववेत्ताओं को भी भारतीय दर्शन-शास्त्र से प्रचुर प्रेरणा प्राप्त हुई थी।

यद्यपि श्री राधाकृष्णन् ने विभिन्न दर्शनों की सुन्दर विवेचना की है, तथापि आपके ग्रन्थों में इस बात की स्पष्ट झलक दिखाई देती है कि श्री शंकराचार्य के अद्वैतवाद पर आप पर्याप्त आस्था रखते हैं। साथ ही आपने यह सिद्ध करने का भी प्रयत्न किया है कि शंकर के अद्वैतवाद, रामानुज के विशिष्टाद्वैतवाद, निम्बार्क के द्वैताद्वैतवाद, भास्कराचार्य के शुद्धाद्वैतवाद अथवा पुष्टिवाद में बाहरी भिन्नता होने पर भी मूलतः ये सभी सिद्धान्त एक ही हैं।

श्री राधाकृष्णन् अपनी सभ्यता एवं संस्कृति के प्रति स्वाभिमानी होते हुए भी इस तथ्य में विश्वास नहीं करते कि पाश्चात्य सभ्यता सर्वथा हेय तथा उपेक्षणीय है। अपनी सभ्यता के साम्य में आकर, दूसरी संस्कृतियों के प्रति द्वेष की भावना न रखकर सांस्कृतिक समन्वय से विश्व-शान्ति का मार्ग प्रशस्त हो सकता है तथा यही 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के सच्चे सिद्धान्तों के अनुरूप है। आपका विश्वास है कि वैज्ञानिक अनुसन्धानों से प्रत्येक राष्ट्र अन्योन्याश्रित हो गया है, अतः संसार को परिवार के रूप में देखने में ही कल्याण है। इसी मार्ग से धर्म, समाज तथा परिवार की उन्नति सम्भव है। इसीलिए हम कह सकते हैं कि श्री राधाकृष्णन् एक-देशीय नहीं, प्रत्युत विश्व-नागरिक हैं।

समाज की उन्नति तथा उसके नव-निर्माण के सम्बन्ध में श्री राधाकृष्णन की विचारधारा अत्यन्त सूक्ष्म तथा मौलिक है। उनका कहना है कि 'समाज का उत्थान उन व्यक्तियों द्वारा होगा, जिनका व्यक्तित्व गहन है तथा जिनके जीवन में सत्यता है। सुखमय पारिवारिक जीवन से ही उन्नतिशील समाज का जन्म होता है।' इस प्रकार हम देखते हैं कि जीवन के प्रत्येक दृष्टिकोण के सम्बन्ध में श्री राधाकृष्णन की विचारधारा दार्शनिक होने के साथ-साथ नवीन एवं मौलिक है।

मार्च, १९४७ में जब दिल्ली में एशियायी देशों का सम्मेलन हुआ था तो उसमें आपने एशिया के विभिन्न देशों के प्रतिनिधियों से विचार-विनिमय करके उन्हें बताया था कि भौतिकवाद में विश्वास रखने से विश्व-शान्ति नहीं हो सकती। विश्व-शान्ति का एकमात्र मार्ग अध्यात्मवाद ही है।

अध्ययन तथा मनन की ओर प्रवृत्ति होने के कारण स्वभावतः आपको एकाकी जीवन ही पसन्द है। किन्तु साथ ही आपका व्यक्तित्व इतना आकर्षक है कि जो एक बार आपके सम्पर्क में आ गया, वह आपको भुला नहीं सकता। अपने स्वभाव के विषय में आपने स्वयं लिखा है—'मुझे लोग शान्त तथा तीव्र इच्छा-शक्ति वाला समझते हैं, जब कि मैं ऐसा हूँ नहीं। भावुकता मुझ में तीव्र रूप से अधिक मात्रा में आ जाती है, जिसे मैं छिपा जाता हूँ।' आप सादगी एवं विनम्रता की प्रतिमूर्ति हैं। बनावट तथा मिथ्याडम्बर तो आपको छू तक नहीं गया।

श्री राधाकृष्णन् विवेकानन्द अथवा रवीन्द्रनाथ की भाँति स्वयं साधक नहीं हैं। आप केवल व्याख्याता हैं, भाष्यकार हैं, परन्तु स्वयं उपासक अथवा साधक नहीं बने। आपकी एक बड़ी विशेषता यह है कि राष्ट्रीय आन्दोलन में प्रत्यक्ष भाग न लेने पर भी आप राष्ट्रीय नेताओं के घनिष्ट मित्र रहे हैं। गांधी जी पर तो आपकी परम श्रद्धा है। गांधी जी का किंचित् भी अपमान आप सहन नहीं कर सकते। पं० जवाहरलाल नेहरू की अध्यक्षता में जो कांग्रेस-संयोजक-समिति बनी थी, उसके आप

शिक्षा व संस्कृति विभाग के अध्यक्ष रह चुके हैं।

१९४७ में भारत के स्वतन्त्र होने पर आपको विधान परिषद् का सदस्य बनाया गया। राजनीतिक कार्यों में रुचि न रखते हुए भी आपने देश-सेवा के लिए विधान-परिषद् की सदस्यता स्वीकार करके एक सच्चे देशभक्त के कर्त्तव्य का पालन किया। इसके पश्चात् आपको इंगलैंड में भारत का राजदूत नियुक्त किया गया। तत्पश्चात् जब श्रीमती विजयलक्ष्मी पंडित को अमरीका में राजदूत नियुक्त किया गया तो आपको उनके स्थान पर रूस में भारत का राजदूत बनाकर भेजा गया था। अब जब कि भारत में स्वतन्त्र गणतन्त्र होने के उपरान्त प्रथम चुनाव हुए हैं, उसमें जनता ने आपको भारत का उपराष्ट्रपति मनोनीत करके अपने विवेक का परिचय दिया है। आप-जैसे सुयोग्य दार्शनिक के नेतृत्व में हमें नवीन दिशा का बोध होगा।

श्री राधाकृष्णन् एक कुशल वक्ता तथा स्वतन्त्र विचारक हैं। आप अपने धाराप्रवाहिक भाषणों की सरसता से मनुष्य-मात्र को मोहित करने में नहीं चूकते। कानून की उच्च परीक्षा पास करने के कारण वाक्-शक्ति के साथ-साथ आपकी तार्किक खंडन-मंडन की प्रतिभा भी पर्याप्त विकास पा गई है। आप एक कुशल प्रबन्धक और प्रत्येक कार्य को नियमित ढंग से करने के लिए प्रसिद्ध हैं। आप-जैसे नर-रत्नों के सद्-प्रयत्नों से ही राष्ट्र के कल्याण की आशा है।

७

# डॉक्टर भगवानदास

जिस मनीषी-प्रवर महापुरुष ने अपने जीवन का अधिकांश समय स्थानीय, देशीय तथा सर्वमानवीय लोक-सेवा के उन कार्यों में व्यतीत कर दिया जिनसे देशी-विदेशी, विशेषतः विद्वज्जन सभी परिचित हैं, उनकी प्रशंसा शब्दों द्वारा नहीं की जा सकती। डॉ० भगवानदास ने अपने जीवन में अनेक लोकोपयोगी कार्य किये हैं; परन्तु उन सबसे महत्त्वपूर्ण और परार्थ-परमार्थ-पथ-प्रदर्शक उनका बौद्धिक कार्य है। उन्होंने हिन्दी, अंग्रेजी तथा संस्कृत में लोक-कल्याण-प्रवर्तक अनेक ग्रन्थ लिखकर भारतीय दार्शनिक परम्परा को एक नवीन रूप से अक्षुण्ण रखा है। यहाँ हम उनके जीवन पर कुछ प्रकाश डालेंगे।

डॉ० भगवानदास का जन्म १२ जनवरी, १८६९ को बनारस के एक सम्पन्न परिवार में हुआ था। आपने प्रारम्भिक शिक्षा बनारस में ही पाई। आपकी माता जी शिक्षा के पवित्र वातावरण में रह चुकी थीं, अतः बाल्य-काल ही में आप पर मातृ-संस्कार का प्रभाव पड़ चुका था। बनारस में शिक्षा प्राप्त करके आप कलकत्ता चले गए और वहाँ अंग्रेजी तथा दर्शन-शास्त्र का अपूर्व ज्ञान प्राप्त करके प्रतिभाशाली जीवन में

प्रचुर हुए। कुछ ही दिनों में आपने दर्शन एवं साहित्य-सम्बन्धी ग्रन्थ लिखकर अपनी अपूर्व प्रतिभा और विद्वत्ता का परिचय जनता को दे दिया। साहित्य में आपने 'रस-मीमांसा' लिखकर साहित्यिक वाङ्मय में एक क्रांति उत्पन्न कर दी। आपकी साहित्य-सेवाओं के उपलक्ष्य में काशी-हिन्दू-विश्वविद्यालय ने सन् १९२९ में और प्रयाग-विश्वविद्यालय ने १९३७ में आपको 'डॉक्टर ऑफ लिटरेचर' की उपाधि से सम्मानित किया।

आपने अपने कालिज-जीवन में ही सरकारी पदों पर कार्य करना आरम्भ कर दिया था। प्रारम्भ में तहसीलदार तथा डिप्टी कलक्टर आदि पदों पर आपने कार्य किया। 'काशी-हिन्दू-विश्वविद्यालय' के निर्माण में आपने श्री मदनमोहन मालवीय का दाहिना हाथ बनकर काम किया। 'काशी विद्यापीठ' के आप कुलपति थे। अब भी काशी विद्यापीठ को आपका सहयोग प्राप्त है। 'सेण्ट्रल हिन्दू-कालिज' के अवैतनिक मंत्री पद पर आप बड़ी तत्परता से १८९९ से १९१४ तक कार्य करते रहे।

दर्शन-शास्त्र मोक्ष-मार्ग का उद्घाटक है। इससे चित्त को शांति मिलती है और सत्य का साक्षात्कार होता है। कुछ लोगों के लिए वह केवल बुद्धि-विलास का ही एक रोचक साधन है। पर वस्तुतः ये दोनों ही धारणाएँ 'अपूर्ण' हैं। दर्शन जीवन की सारी समस्याओं को सुलझाने की कुञ्जी है। जिस समाज के जैसे दार्शनिक विचार होंगे, वैसे ही उस के सामाजिक नियम, संस्कार, विधान तथा शासन-योजना आदि होंगी। आज यूरोप की अनियंत्रित 'विकासवाद' और 'व्यक्तिवाद' ने जो दशा की है, उनके द्वारा सारी पृथ्वी को जो हानि पहुँच रही है, वह सभी जानते हैं। इस समय प्रतिद्वन्द्विता और स्वार्थ का साम्राज्य है। सभी अपने-अपने अधिकारों की चिन्ता में हैं। साम्राज्यवाद, पूँजीवाद, साम्यवाद ये सब इस दूषित वातावरण के फल हैं। किन्तु श्री भगवानदास जी का मत है कि 'दर्शन से जीवन की समस्याओं पर प्रकाश पड़ता है, उससे यह संघर्ष टल सकता है।' उनका कहना है कि 'मनु ने समाज की

जो व्यवस्था की है, वह लोकोपयोगी है। स्थान-भेद से उसमें कहीं-कहीं आवश्यकता पड़ सकती है समयानुकूल परिवर्तन की। उससे नवीन व्यवस्था की जाती है, किन्तु मूल सिद्धान्त वही है। उन्होंने मनुष्य की विशद् व्याख्या भी की है। सम्भव है उनकी व्याख्या से लोगों का मत-भेद हो, किन्तु उनका प्रयत्न स्तुत्य है।'

डॉ० भगवानदास जी की प्रतिभा ने शास्त्रार्थ का कलेवर बदल दिया है। आप प्राचीनतम आर्ष वचनों का ही ऐसा अर्थ लगाते हैं, जो नये देश, काल, पात्र, निमित्त आदि के लिए उपयुक्त भी, और प्राचीन भाव के अविरुद्ध भी सिद्ध होता है। यही कारण है कि आपके ग्रन्थ नवीन के प्रतिपादक होने पर भी प्राचीन, तथा प्राचीन के अनुशासक होने पर भी नवीन, मौलिक तथा अपूर्व जान पड़ते हैं। इनके द्वारा वृद्ध जरा-ग्रस्त शास्त्र-शरीर का काया-कल्प भी हो जाता है, और उसकी सनातन वेदार्थात्मा इनसे अक्षत और अनुस्यूत भी बनी रहती है। वस्तुतः प्राचीनतम ऋषि-दृष्टि और वेद-शास्त्र के 'समानीकरण' के उद्देश्य से ही आपका ज्ञान-कर्म प्रवृत्त है; किसी नये शास्त्र के आविष्कार के लिए नहीं।

वास्तव में आपका समस्त जीवन एक गम्भीर चिन्तन में आबद्ध है। भारतीय संस्कृति के सजीव वरदाता के रूप में आप में आधुनिक ऋषित्व-भाव की छाप आपके जीवन के कार्यों से प्रकट होती है। साधन और अध्ययन के समय में भी देश-सेवा में प्रवृत्त रहना आप जैसे ही कर्मठ पुरुषों का काम है। राजनीति में आपने सदैव आदर्श परम्परा का विचार किया है। पहले जब 'स्वराज्य-व्यवस्थापिका-संघ' की स्थापना हुई और 'स्वराज्य' की व्याख्या की गई, उससे आप सहमत नहीं थे। आपने कांग्रेस के नेताओं के सामने अपने विचार रखे थे; स्वयं गांधी जी से काफी विचार-विमर्श किया; किन्तु उस समय कांग्रेस ने आपके विचारों की खिल्ली उड़ाई थी। किन्तु अन्त में जब कांग्रेस ने पूर्ण स्वाधीनता का प्रस्ताव पास किया, तब आपके विचारों की सत्यता प्रकट हुई।

आपने अंग्रेजी साहित्य और दर्शन पर लगभग दो दर्जन पुस्तकें लिखी हैं, जो देश-विदेश में आपके यश का विस्तार कर रही हैं। हिन्दी में दर्शन-सम्बन्धी आपके दो महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'समन्वय' और 'पुरुषार्थ' हैं। साहित्य में भी आपके मौलिक विचारों की कई महत्त्वपूर्ण कृतियाँ हैं। थियोसोफिकल सोसायटी ने भी आपकी कई पुस्तकें प्रकाशित की हैं।

अब वृद्धावस्था में संन्यास लेने पर भी आप उचित अवसरों पर देश-सेवा से पीछे नहीं हटते। समय समय पर आप देश-सेवा की अन्य प्रवृत्तियों में योग-दान देते रहते हैं। आपके इस आदर्श जीवन की छाप आपके पुत्र श्रीप्रकाश पर भी पूर्ण रूप से पड़ी है। उन्होंने भी अपनी अधिकतर आयु राष्ट्रीय आन्दोलनों में भाग लेने में ही बिताई है। वास्तव में भगवानदास जी की देश-सेवा और देश को दर्शन-सम्बन्धी उनकी देन भारतीय इतिहास में सदा अमर रहेगी।

शिक्षा, दर्शन, राजनीति, साहित्य और राष्ट्र-भाषा हिन्दी की सेवा में कार्य करने के उपहार-स्वरूप आप १९१९ में संयुक्त प्रान्तीय-राजनीतिक-सामाजिक सम्मेलन के सभापति बनाये गए। १९२१ में 'हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन' के कलकत्ता-अधिवेशन के भी आप सभापति मनोनीत हुए। देश-सेवा की प्रवृत्ति में योग-दान देने के कारण आप १ वर्ष तक जेल में भी रहे। १९३५ से १९३८ तक आप केन्द्रीय धारा-सभा के सदस्य भी रहे।

डॉ० भगवानदास जी की स्मृति-शक्ति अद्भुत है। संस्कृत के अनेक श्लोक आपको कंठस्थ हैं और आपको सभी का पता-ठिकाना याद है। अवसर पड़ने पर वे श्रुति, स्मृति और पुराणों आदि से तुरन्त अवतरण पेश कर देते हैं। बीच-बीच में उर्दू-फारसी के वाक्यों की भी पुट रहती है।

विद्वान् होते हुए भी आप सांसारिक व्यवहार में कुशल हैं। बात यह है कि प्रत्येक प्रसिद्ध व्यक्ति के सम्बन्ध में उनके जीवन-काल में

ही कुछ कथाएँ प्रचलित हो जाती हैं। भारत में तो प्रत्येक बड़ा आदमी सर्वशक्तिमान् मान लिया जाता है और प्रत्येक संस्था की यह इच्छा होती है कि उसे अपने कार्य में खींच लिया जाय। कुछ लोगों की धारणा है कि श्री भगवानदास 'योगी' हैं। लोगों की यह धारणा सम्भवतः उनके दार्शनिक होने तथा 'थियोसोफिकल सोसाइटी' के सदस्य होने के कारण ही हुई है। भारत में दार्शनिकों के बहुधा योगी होने की बात भी सुनी जाती है; किन्तु डॉ० भगवानदास योगी नहीं हैं। दार्शनिक होते हुए भी आप में तपश्चर्या की कमी है। आप स्वयं कहते हैं—'मेरा शरीर तपश्चर्या के योग्य नहीं है।' आप मितभाषी, मितभोजी, सच्चरित्र और सद्‌गृहस्थ अवश्य हैं, पर तपस्वी नहीं हैं। यही कारण है कि आपका समादर करने वाले बहुत हैं, किन्तु आपके अनुयायी—शिष्य—कोई नहीं हैं।

दर्शन बड़ा नीरस विषय समझा जाता है और प्रायः लोग दार्शनिकों को बड़ा ही नीरस समझते हैं। किन्तु श्री भगवानदास में यह बात नहीं है। वह समय पर हँसमुख भी बन जाते हैं। उनमें वह वाक्‌पटुता नहीं है, जिसकी आवश्यकता तर्क-वितर्क अथवा शास्त्रार्थ में पड़ती है। उनके भाषणों में शान्त, वीर और हास्य-रसों का बहुत अच्छा समावेश रहता है। हिन्दी में उनकी लेखन-शैली अपनी पृथक् ही विशेषता रखती है, जिसमें वे हिन्दी के साथ संस्कृत के तत्सम शब्दों और अरबी-फारसी के समानार्थक शब्दों का भी प्रयोग कर जाते हैं।

डॉ० भगवानदास अपने सिद्धान्त पर दृढ़ रहने वाले व्यक्ति हैं। जो विचार उनकी बुद्धि और विवेक की कसौटी पर पूर्ण नहीं उतरते, उनका वे निर्भीकता से विरोध करते हैं। युद्ध के समय करपात्री द्वारा किये गए यज्ञों का उन्होंने पुस्तक लिखकर तीव्र विरोध किया था। इसी प्रकार सहशिक्षा की पद्धति पर अपने विचार प्रकट करते हुए आपने महिलाओं से आदर्श चरित्र-निर्माण करने की अपील की थी।

डॉ० भगवानदास की महत्ता का सूचक उनका दर्शन-सम्बन्धी अगाध ज्ञान ही है। आप उन थोड़े-से व्यक्तियों में से हैं, जिन्हें विद्या का अजीर्ण नहीं होता; वे अपने ज्ञान को पचा सकते हैं। कुछ व्यक्तियों की यह दशा होती है कि वे अध्ययन बहुत करते हैं; किन्तु उनके मस्तिष्क में निरन्तर ऐसी हलचल मची रहती है कि ज्ञान के कण आपस में मिलने नहीं पाते। परन्तु श्री भगवानदास ने पाश्चात्य और प्राच्य विद्याओं का वस्तुतः समन्वय किया है। वह समन्वय चाहे अन्य लोगों को रुचिकर न हो, किन्तु उन्होंने अपने लिए तो अपनी समस्त सामग्री को एक सूत्र में बाँध लिया है। ऐसा वही कर सकता है, जिसमें स्वतन्त्र विचार करने की शक्ति हो। साधारण विद्वान् संग्रहकर्ता होता है, परन्तु आविष्कार करना, भिन्न-भिन्न ग्रन्थों में से उस तत्त्व को ढूँढ़ निकालना, जो उनमें विद्यमान होकर उनको प्रेरित कर रहा है और विभिन्न विद्वानों के वाक्यों के पर्दे में से उस सत्य की झलक देखना, जिसके निरूपण की वे सब यथाशक्ति चेष्टा कर रहे हैं, सब का काम नहीं। किसी ने ठीक कहा है—'दर्शन-शास्त्र के अध्यापक तो बहुत होते हैं—पर दार्शनिक कोई विरला ही होता है।'

डॉ० भगवानदास बड़े विनम्र, दयालु और सादगी-पसंद व्यक्ति हैं। आप सर्वथा आडम्बरहीन रहते हैं। आप घर का प्रबन्ध स्वयं करने में भी दक्ष हैं। हर प्रकार से सम्पन्न होने पर भी उनका जीवन सादगी से व्यतीत होता है। आपके दो सुयोग्य पुत्र हैं। माननीय श्रीप्रकाश इस समय मद्रास के गवर्नर हैं और श्रीयुत चन्द्रभाल पहले उत्तर प्रदेश की लेजिस्लेटिव कौंसिल के अध्यक्ष थे। डॉ० साहब का सारा-का-सारा परिवार सुसंस्कृत और सुपठित है। आपके गम्भीर अध्ययन एवं कार्यक्षमता की छाप परिवार के सभी सदस्यों पर स्पष्टतः परिलक्षित होती है। आप-जैसे गम्भीर दार्शनिक पर देश गर्व कर सकता है।

१

# डॉक्टर सर चन्द्रशेखर वेंकट रमन

भारतीय विज्ञान के क्षेत्र में जिन विभूतियों का अनन्य स्थान है, उनमें डॉक्टर सर चन्द्रशेखर वेंकट रमन भी एक हैं। विज्ञान-जगत् में ख्याति प्राप्त कर लेने के उपरान्त एक महान् वैज्ञानिक के रूप में विदेशों का भ्रमण करने वाले तथा विज्ञान-सम्बन्धी नोबल-पुरस्कार प्राप्त करने वाले आप एकमात्र भारतीय वैज्ञानिक हैं। विज्ञान-सम्बन्धी खोजों को करते समय आपको न तो किसी से किसी भी प्रकार की सहायता ही मिली और न आपने इसके लिए दूसरों का मुँह ताका। आप तो केवल अपने व्यक्तिगत परिश्रम, अध्यवसाय, उत्साह और अटूट कर्त्तव्य-निष्ठा के कारण ही इतने सफल वैज्ञानिक हो सके हैं। आपने अपनी अन्तःप्रेरणा और अटूट विज्ञान-साधना के बल पर, असाधारण महत्त्व के अनुसन्धान तथा अन्वेषण करके, विश्व के वैज्ञानिकों के समक्ष अपनी और भारत की प्रतिष्ठा स्थापित की।

आपका जन्म १७ नवम्बर सन् १८८८ को दक्षिण भारत के त्रिचनापल्ली नामक स्थान में हुआ था। आप पर अपने पिता पण्डित चन्द्रशेखर अय्यर की प्रतिभा का ही प्रभाव पड़ा था, क्योंकि वे भी भौतिक

४

# वैज्ञानिक तथा आविष्कारक

१

डॉक्टर सर चन्द्रशेखर वेंकट रमन

२

विज्ञानाचार्य जगदीशचन्द्र बसु

३

डॉक्टर प्रफुल्लचन्द्र राय

४

श्रीनिवास रामानुजन्

५

डॉक्टर शान्तिस्वरूप भटनागर

६

डॉक्टर मेघनाद साहा

७

आचार्य बीरबल साहनी

विज्ञान के माने हुए पण्डित थे। वेंकट के जन्म के पश्चात् वे त्रिचनापल्ली छोड़कर विजगापट्टम चले गए और वहाँ के हिन्दू कालिज में भौतिक विज्ञान के लेक्चरार नियुक्त हो गए। वहाँ पर अपने पिता के एक साथी प्रोफेसर आयंगर के सम्पर्क से श्री रमन का अंग्रेजी भाषा पर असाधारण अधिकार हो गया और पिता के प्रभाव के कारण विज्ञान की ओर उनकी रुचि हुई।

इस छोटी-सी अवस्था में ही विज्ञान से उन्हें इतना मोह हो गया कि उसके मुकाबले में अन्य विषयों को पढ़ने का अवकाश निकालना भी कठिन हो जाता। हाई स्कूल कक्षाओं में पहुँचकर बालक रमन ने विज्ञान के कई महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों को समाप्त कर डाला था। १२ वर्ष की आयु में ही उन्होंने मैट्रिकुलेशन परीक्षा सम्मानपूर्वक पास की और दो वर्ष के पश्चात् ही विश्वविद्यालय की एफ० ए० की परीक्षा में प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण होकर विश्वविद्यालय में अच्छा स्थान प्राप्त किया। एफ० ए० की परीक्षा पास करने के पश्चात् आपने मद्रास के 'प्रेसीडेंसी कालिज' में प्रवेश किया। आपकी असाधारण योग्यता एवं परिपक्व ज्ञान को देखकर कालिज के सभी प्रोफेसर आश्चर्य-चकित रह गए। कालिज में आपने अपना विषय 'भौतिक-विज्ञान' ही रखा। अध्ययन के साथ-साथ आप कालिज की प्रयोगशाला में मनचाहे प्रयोग भी करके देखने लगे।

१६०४ ई० में वेंकटरमन ने विश्वविद्यालय की बी० ए० परीक्षा बहुत सम्मान के साथ पास की। विश्वविद्यालय की ओर से आपको कई पारितोषिक और पदक भी दिये गए। बी० ए० करने के पश्चात् आपने प्रेसीडेंसी कालिज से ही 'भौतिक विज्ञान' में एम० ए० की परीक्षा पास की। इस परीक्षा से पूर्व ही आपने मौलिक अन्वेषण कार्य करने की क्षमता का अच्छा परिचय दिया था। परीक्षा पास करने से पूर्व ही आपके दो लेख लन्दन से प्रकाशित होने वाली प्रतिष्ठित वैज्ञानिक पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुके थे।

विद्यार्थी-काल में ही वेंकट रमन ने 'वर्णपट-मापक' तथा 'शब्द-विज्ञान' पर दो नवीन प्रयोगों की खोज करके संसार भर के वैज्ञानिकों को चकित कर दिया था। विश्व-विख्यात वैज्ञानिक लॉर्ड रैले ने भी विद्यार्थी रमन की मुक्त कंठ से प्रशंसा की थी। विश्वविद्यालय में इतनी असाधारण योग्यता का परिचय देने के उपलक्ष्य में शिक्षाधिकारियों ने श्री रमन को भौतिक विज्ञान का विशेष अध्ययन करने के लिए विलायत भेजने की सरकार से सिफारिश की। सरकार ने इसे सहर्ष स्वीकार कर लिया और छात्रवृत्ति देने की स्वीकृति भी दे दी। परन्तु डॉक्टरों ने उनके शरीर और स्वास्थ्य को समुद्र-यात्रा के अयोग्य बतलाया और वे विलायत न जा सके। वास्तव में श्री रमन बचपन से ही दुबले-पतले और कमजोर शरीर के थे।

विलायत न जा सकने पर श्री रमन को कोई निराशा न हुई। उन दिनों अधिकांश ऊँची सरकारी नौकरियों के लिए इंगलैंड जाना अनिवार्य था। विज्ञान-साधना में लगकर आजीविका-उपार्जन करना भी सम्भव न था। केवल 'अर्थ-विभाग' ही की प्रतियोगिता-परीक्षा में बिना विलायत गए सम्मिलित हुआ जा सकता था। अतः रमन ने उक्त परीक्षा देने का निश्चय कर लिया। इसके लिए आपको साहित्य, इतिहास, राजनीति और संस्कृत-जैसे सर्वथा नवीन विषयों का अध्ययन भी करना पड़ा। किन्तु अपनी अनुपम योग्यता तथा कुशाग्र बुद्धि के कारण आप प्रतियोगिता-परीक्षा में भी सर्वप्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हुए। उस समय आपकी अवस्था बीस वर्ष की थी। परीक्षा के परिणाम के अनुसार भारत सरकार ने आपको अर्थ-विभाग में 'डिप्टी एकाउण्टेण्ट जनरल' के उत्तरदायित्वपूर्ण पद पर नियुक्त कर दिया।

सरकारी पद पर नियुक्त होते ही आपका विवाह भी बहुत शीघ्र ही हो गया। दस वर्ष तक श्री रमन भारतीय अर्थ-विभाग में विभिन्न उच्च पदों पर कार्य करते रहे। थोड़ी आयु होते हुए भी आपने अपने कर्त्तव्य तथा पद के उत्तरदायित्व को पूर्ण रूप से निभाया। सरकारी

अफसरों ने आपके कार्य की मुक्त कंठ से प्रशंसा की। अपने अफसरी काल में भी आप बराबर वैज्ञानिक अनुशीलन का कार्य करते रहते थे।

जब आप सरकारी अफसर थे तब ही कलकत्ता में 'इण्डियन एसो-सिएशन फॉर दि कल्टीवेशन साइंस' (भारतीय विज्ञान-परिषद्) के सदस्य बन गए। आपके सहयोग से एसोसिएशन की गणना संसार की प्रतिष्ठित वैज्ञानिक संस्थाओं में की जाने लगी। आपने एसोसिएशन की प्रयोगशाला में जो अनुसंधान कार्य किये, उनके विवरण 'बुलेटिन' के रूप में प्रकाशित किये जाने लगे। इस एसोसिएशन की ख्याति भारत में ही नहीं, अपितु समस्त संसार में फैल गई। एसोसिएशन के सम्पर्क से श्री रमन को भी यथेष्ट लाभ हुआ। एसोसिएशन को एक अच्छे वैज्ञानिक की आवश्यकता थी, और रमन को एक सम्पन्न प्रयोगशाला की। बराबर बीस वर्ष तक श्री रमन इस एसोसिएशन को योग देते रहे और अपने 'नवीन अनुसन्धानों' द्वारा वैज्ञानिक जगत् में नवीन आविष्कारों की अभिवृद्धि करते रहे।

सन् १९१४ में सर आशुतोष मुकर्जी ने तारकनाथ पालित तथा डॉ० रासबिहारी घोष की सहायता से कलकत्ता में 'साइंस कालिज' की स्थापना की और श्री रमन को उस कालिज में विज्ञान का आचार्य नियुक्त किया। सर आशुतोष मुकर्जी को 'साइंस-कालिज' में आपकी नियुक्ति करते समय जिस प्रसन्नता का अनुभव हुआ था, उसका परिचय 'साइन्स-कालिज' के 'शिलारोपण-उत्सव' पर दिये गए उनके भाषण से मिलता है। उन्होंने कहा था :—

"हमारा सौभाग्य है कि हम सर तारकनाथ पालित द्वारा आयोजित 'पालित-आचार्य' पद के लिए श्रीयुत चन्द्रशेखर वेंकट रमन की सेवाएँ प्राप्त करने में सफल हुए हैं। श्रीयुत रमन अपने भौतिक विज्ञान सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण प्रशंसनीय मौलिक अनुसन्धानों से यूरोप में भी यथेष्ट ख्याति अर्जित कर चुके हैं।"

श्री रमन सरकारी नौकरी को तिलांजलि देकर उस कालिज के आचार्य पद पर आसीन हुए। इसके उपरान्त सन् १६१७ से सन् १६३२ तक, १५ वर्ष तक आप 'कलकत्ता-विश्वविद्यालय' तथा 'साइंस एसोसिएसन' के द्वारा होने वाले अनुसन्धान-सम्बन्धी कार्य का निरीक्षण और संचालन करते रहे। अपने इस कार्य-काल में आपने खोज सम्बन्धी जो उल्लेखनीय कार्य किये, उनका यश समस्त संसार में अनायास ही फैल गया। अपनी अटूट साधना तथा अद्भुत कर्म-निष्ठा के कारण भारत का मस्तक ऊँचा हो गया।

आपको अपने महत्त्वपूर्ण और सर्वश्रेष्ठ वैज्ञानिक खोज-सम्बन्धी कार्य 'रमन प्रभाव' के कारण सहज ही ख्याति मिल गई और अब उसकी गणना संसार की कुछ महानतम खोजों में की जाती है। 'रमन प्रभाव' का समस्त विश्व के श्रेष्ठतम वैज्ञानिक बड़े आदर के साथ स्मरण करते हैं। अपनी इस खोज के द्वारा श्री रमन ने यह सिद्ध कर दिखाया कि आकाश का रंग परिक्षेपण के बाद निश्चय ही परिवर्तित हो जाता है।

शब्द-विज्ञान के सम्बन्ध में आपने अनेक खोजपूर्ण बातों का आविष्करण किया है। आपने 'कोलाहल' और 'वाद्य-यन्त्रों की ध्वनि' एवं 'संगीत' आदि के अध्ययन के लिए कई नवीन यन्त्रों का आविष्कार किया। इसके अतिरिक्त इस सम्बन्ध में जो कार्य किये उनमें 'सेंट पाल गिरजाघर', कलकत्ता के 'विक्टोरिया मेमोरियल' तथा पटना के खलिहान के 'उपांशुवादी गुम्बदों' का अनुशीलन उल्लेखनीय है। इन्हीं महान् परिश्रम-साध्य कार्य-कलापों के कारण आप विश्व में शब्द-विज्ञान के एकमात्र प्रकाण्ड विद्वान् समझे जाते थे।

प्रकाश और रंगों के सम्बन्ध में आपके खोज-विषयक कार्य भी अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण हैं। आकाश के कुहरे और हलके-हलके बादलों द्वारा निर्मित रंगीन किरीटों तथा इन्द्र-धनुषों की व्याख्या आदि उनके विशेष उल्लेखनीय कार्य हैं। प्रकाश के आणविक विवर्तन के विषय

में अपने अन्वेषणों से आपने यह भली-भाँति सिद्ध कर दिया है कि न केवल पारदर्शक पदार्थों में, अपितु बर्फ और स्फटिक जैसे अनेक ठोस पदार्थों में भी अणुओं की निरन्तर संचरणशीलता के कारण प्रकाश का प्रवेश होता रहता है। प्रकाश की सक्रियता और तेजी के कारण किसी भी द्रव और ठोस पदार्थ में अणुओं का परिगणन तथा उनकी गति का परीक्षण करना सर्वथा सम्भव है।

उपर्युक्त अन्वेषणों के अतिरिक्त आचार्य रमन ने भौतिक-विज्ञान से सम्बन्धित प्रायः प्रत्येक दिशा में उल्लेखनीय प्रयोग किये हैं और सब ही में उन्हें असाधारण सफलता भी प्राप्त हुई है। अपनी महत्त्वपूर्ण विज्ञान-साधना और सेवाओं के लिए आपको संसार के सभी सभ्य देशों में यथेष्ट यश और सम्मान मिला है। १९२२ में आप 'ऑक्सफोर्ड' में होने वाली ब्रिटिश साम्राज्य के विश्वविद्यालयों की कांग्रेस में सम्मिलित हुए। १९२४ में लन्दन की विश्वविख्यात-संस्था 'रॉयल सोसायटी' ने आपको अपना 'फैलो' मनोनीत किया। १९२८ में इटली की विज्ञान-परिषद् ने आपको मेट्यूसी पदक प्रदान किया। १९२९ में 'इण्डियन मेथेमेटिकल सोसायटी' के फैलो मनोनीत हुए। इसी वर्ष ब्रिटिश सरकार ने आपको सर की उपाधि से सम्मानित किया। १९३० में 'ज्यूरिच की फिजिकल सोसायटी' ने आपको अपना ऑनरेरी फैलो बनाया। तब ही रॉयल सोसायटी की ओर से ह्यूजेज पदक से आपको सम्मानित किया गया। इसके अतिरिक्त अनेक देशी और विदेशी विश्वविद्यालयों ने अपनी डिग्रियाँ देकर आपको सम्मानित किया। १९३० में 'रमन प्रभाव' के आविष्कार के उपलक्ष्य में आपको भौतिक विज्ञान का 'नोबल पुरस्कार' मिला। इस अवसर पर भारत में अत्यन्त आनन्द और हर्ष प्रकट किया गया था।

सर वेंकट रमन ने अनेक बार विदेशों की यात्रा की। लगभग सभी सभ्य देशों की वैज्ञानिक संस्थाओं ने आपको अपने देश में बुलाकर आपका विशेष आदर-सत्कार किया। संसार की बड़ी-बड़ी वैज्ञानिक

संस्थाओं के सम्मेलनों और अधिवेशनों में आपने भाग लिया है। जहाँ आपने एक विश्व-विख्यात वैज्ञानिक के रूप में अपार यश प्राप्त किया है, वहाँ भारत के गौरव को भी बढ़ाया है।

आजकल आप कलकत्ता-विश्वविद्यालय से अवकाश ग्रहण करने के उपरान्त बंगलौर की सुविख्यात 'इंडियन इंस्टीट्यूट ऑफ् साइंस' में अनुसन्धान-कार्य का नेतृत्व कर रहे हैं। यह संस्था भारत की वैज्ञानिक संस्थाओं में अग्रगण्य है। १९३२ से १९३७ तक आप इस संस्था के डायरेक्टर भी रह चुके हैं। इस संस्था में भारत के विभिन्न प्रान्तों के अनेक विद्यार्थी आपके नेतृत्व में अन्वेषण-कार्य में संलग्न हैं।

इतना महान् वैज्ञानिक होते हुए भी सर वेंकट रमन की विनम्रता और सादगी में कोई अन्तर नहीं आया। आपकी साधारण, नियमित तथा संयमपूर्ण दिनचर्या अनुकरणीय है। आप अपना जीवन विशुद्ध भारतीय विद्वानों के समान सादगी से व्यतीत करते हैं और दिन-रात विज्ञान-साधना में एक तपस्वी की भाँति रत रहते हैं। अभी देश को आप से बहुत कुछ आशाएँ हैं।

२

# विज्ञानाचार्य जगदीशचन्द्र वसु

आज विश्व के समस्त देशों के सम्मुख विज्ञान के क्षेत्र में भारत का जो आदरणीय आदर्श स्थिर है, उसका एकमात्र श्रेय विज्ञानाचार्य जगदीशचन्द्र वसु को ही दिया जा सकता है। उन्होंने अपनी अलौकिक प्रतिभा, गहन अन्वेषण-शक्ति और दृढ़ कार्य-क्षमता के कारण नये ज्ञान का जो आलोक प्रदान किया उसमें केवल भारत ही नहीं अपितु विश्व के सभी देश लाभान्वित हुए। उनके द्वारा प्रवर्तित वैज्ञानिक खोजों में 'वृक्षों और पौधों में जीव की सत्ता' सिद्ध करना प्रमुख है।

श्री वसु का जन्म ३० नवम्बर, १८५८ को बंगाल प्रान्त के ढाका जिले के अन्तर्गत राढ़ीखाल नामक ग्राम में एक मध्यवित्त बंगाली परिवार में हुआ था। आपके पिता श्री भगवानदास वसु उन दिनों बंगाल प्रान्त के फरीदपुर जिले में डिप्टी कलक्टर थे। वे बड़े साहसी, अध्यवसायी और धर्मनिष्ठ व्यक्ति थे। उनकी माता भी भारतीय सभ्यता और आचार-धर्म से स्नेह रखने वाली एक भद्र महिला थीं। आपकी प्रारम्भिक शिक्षा गाँव की पाठशाला में ही हुई थी। बचपन से ही आपको जीव-जन्तुओं तथा पेड़-पौधों को देखकर उनके सम्बन्ध में कुछ सोचने की आदत-सी

बन गई थी। उनके पिता श्री भगवानदास बसु अपने होनहार पुत्र की इस निसर्ग-प्रवृत्ति को समझ गए और उन्होंने उस प्रवृत्ति के विकास के लिए बालक को प्रोत्साहित किया।

प्रारम्भिक शिक्षा समाप्त करके उन्होंने कलकत्ता के 'सेंट ज़ेवियर स्कूल' से मैट्रिक पास किया और फिर उसी कालिज से बी० ए० की परीक्षा सफलतापूर्वक पास की। इस कालिज में आपको सुप्रसिद्ध शिक्षा-शास्त्री और वैज्ञानिक फादर लेफाण्ट के सम्पर्क में आने का सुअवसर प्राप्त हुआ; जिससे आपकी अभिरुचि भौतिक विज्ञान की ओर और भी हो गई तथा आप भौतिक विज्ञान के रोचक तथा आकर्षक प्रयोगों का अनुभव करने लगे।

इसके पश्चात् जगदीशचन्द्र बसु उच्च शिक्षा-प्राप्ति के लिए इंगलैंड गए और वहाँ पर वे 'औषधि-विज्ञान' ( मैडीसन ) का अध्ययन करने के उद्देश्य से 'लन्दन मैडीकल कालिज' में भर्ती हो गए। परन्तु डॉक्टरी का चीर-फाड़ का कार्य आपको पसन्द नहीं आया और आपने मैडिकल कालिज से अलग होकर 'विशुद्ध विज्ञान' के अध्ययन का निश्चय किया। परिणामस्वरूप आपने 'कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय' में नाम लिखाया और सन् १८८४ में उन्होंने 'रसायन' तथा 'वनस्पति विज्ञान' में बी० ए० की परीक्षा पास करके अगले वर्ष लन्दन-विश्वविद्यालय से 'बी० एस-सी०' की उपाधि भी प्राप्त की और सम्मानपूर्वक स्वदेश लौटे।

भारत में आकर वे कलकत्ता के 'प्रेसिडेन्सी कालिज' में प्रोफेसर नियुक्त हो गए। सरकार उन दिनों यूरोपियनों का अधिक सम्मान करती थी और भारतीयों को उनकी अपेक्षा दो-तिहाई कम वेतन मिलता था। साथ ही यह भी माना जाता था कि भारतीय लोग वैज्ञानिक विषयों को पढ़ाने में अयोग्य हैं। जगदीशचन्द्र बसु को ये बातें बहुत अखरीं। उन्होंने विरोध-प्रकाशन के रूप में कालिज से तीन वर्ष तक वेतन न लिया और बड़ी लगन और उत्साह से कार्य करते रहे। अन्त में कालिज के अधिकारी आपके कार्य से बड़े प्रसन्न हुए और आपको पिछले तीन वर्षों

का वेतन यूरोपियनों के समान ही दे दिया गया।

कालिज में प्रयोगशाला का भी उचित प्रबन्ध न था। आपने आर्थिक कठिनाई का सामना करते हुए भी अपने घर पर 'निजी प्रयोगशाला' बनाई और उसी में अनुसंधान करने लगे। विश्व के अन्य महान् वैज्ञानिकों की तरह आपका ध्यान भी 'विद्युत् चुम्बकीय तरंगों' से सम्बन्धित 'हर्ज' के प्रयोगों की ओर गया। उन दिनों इन प्रयोगों की वैज्ञानिक जगत में बड़ी धूम थी। आपने बड़े उत्साह से इन तरंगों के विषय में अपनी खोज शुरू कर दी और धीरे-धीरे अपनी इस खोज के सम्बन्ध में आपने 'विद्युत् तरंगों के गुण' शीर्षक से एक लेख-माला भी लिखनी शुरू की। आपके इन लेखों से विज्ञान-जगत में हलचल-सी मच गई। लन्दन की 'रायल सोसायटी' ने आपके इन अन्वेषणों को खूब सराहा। इसके उपरान्त आपकी गणना विश्व के विख्यात् वैज्ञानिकों में होने लगी।

तत्पश्चात् वसु ने जीवन में अनेक वैज्ञानिक आविष्कार किये। निरन्तर २० वर्ष तक वे अकेले कार्य करते रहे, क्योंकि उनके मन में जो बड़े-बड़े विचार उठते थे, उनकी प्रशंसा करने वाला कोई न था। उन्होंने अपने प्रयोगों से यह सिद्ध कर दिखाया कि फौलाद और दूसरी धातुओं में अनुभव तथा पौधों में भाव व विकार पाये जाते हैं, प्रत्येक वस्तु जीती और मरती है।

'भौतिकी व पदार्थ-शास्त्र' के क्षेत्र में डॉ० वसु का स्थान सबसे ऊँचा है। प्रोफेसर मारकोनी, वसु, और एक 'अमरीकी वैज्ञानिक'—इन तीनों में सबसे पहले वसु ने ही यह सिद्ध करके दिखाया कि तारों के बिना ही तार के संकेत आकाश में इधर-उधर भेजे जा सकते हैं। १८९५ में बंगाल में आपने गवर्नर के सामने अपने प्रयोग द्वारा बेतार के तार का अनुसन्धान सिद्ध करके दिखा दिया था। उन्होंने बिना तार के ही दूर पड़े हुए बोझ को हिला दिया और घण्टी को बजाकर एक बन्द कमरे में रखी हुई छोटी-सी सुरंग को तड़ाक से फोड़ दिया। क्योंकि प्रतिभाशाली वसु पराधीन भारत में जन्मे थे अतः उनके इस नूतन आविष्कार को उप-

योगिता को आँककर भी विदेशी वैज्ञानिकों ने इस ओर ध्यान नहीं दिया और उन्हें इस महत्त्वपूर्ण आविष्कार के लिए प्रोत्साहित नहीं किया। इसके कुछ दिन पश्चात् प्रो० मारकोनी ने भी स्वतन्त्र रूप से बेतार के तार का आविष्कार किया। प्रो० मारकोनी एक स्वतन्त्र देश में उत्पन्न हुए थे, अतः उनके द्वारा प्रदर्शित इस आविष्कार को मान्यता मिली। यह हमारा दुर्भाग्य है कि बेतार के तार के जनक श्री बसु न होकर मारकोनी ही माने जाते हैं।

विद्युत्-सम्बन्धी खोज में बसु महोदय ने पदार्थों में तनाव का सिद्धान्त प्रस्तुत किया। उन्होंने बताया कि उत्तेजना मिलने पर वस्तुओं के कणों में तनाव उत्पन्न हो जाता है और उत्तेजना हटा लेने पर वे सिकुड़कर अपने पूर्व रूप में आ जाती हैं। इस प्रकार की खोजों से उन्होंने यह सिद्धान्त निकाला कि जड़ और चेतन दोनों में प्रतिक्रिया की समानता पाई जाती है।

१९०१ में पैरिस में होने वाली 'विज्ञान-कांग्रेस' में भारत की ओर से श्री बसु ही सम्मिलित हुए थे। उनके व्याख्यानों का विद्वान् श्रोताओं पर इतना भारी प्रभाव पड़ा कि यूरोप के लगभग सभी विख्यात विश्व-विद्यालयों ने उन्हें व्याख्यान देने के लिए निमन्त्रित किया। १० मई, १९०१ को 'रायल सोसायटी आव इंगलैंड' ने उन्हें व्याख्यान देने का अवसर देकर अत्यधिक सम्मानित किया। वहाँ पर उन्होंने वनस्पति के देह-व्यापार तथा खनिज पदार्थों के सम्बन्ध में अपने महान् आविष्कारों का बखान किया। उनके आविष्कार इतने महान् और मौलिक थे कि बड़े-बड़े वैज्ञानिकों को उनकी सत्यता पर विश्वास न हुआ और वे बसु से ईर्ष्या करने लगे। इसी ईर्ष्या के कारण उनका व्याख्यान 'रायल सोसायटी की पत्रिका' में प्रकाशित नहीं किया गया। जब बसु महोदय दुबारा इंगलैंड गये तो उन्होंने अपने प्रयोगों का सफल प्रदर्शन करके अपने आविष्कारों को सत्य सिद्ध कर दिखाया। संसार के समस्त वैज्ञा-निकों ने आपकी महत्ता को स्वीकार किया।

जगदीशचन्द्र वसु का एक आविष्कार 'रेजोनेंट रिकार्डर' है। संगीत में जिसे प्रतिध्वनि अथवा कम्पन कहते हैं, उसी सिद्धान्त के आधार पर इस यन्त्र की रचना हुई है। रेजोनेंट रिकार्डर हमें बताता है कि बहुत-सी चेष्टाएँ, जिन्हें हम केवल जीव-जन्तुओं में ही सीमित समझते थे, पेड़-पौधों में भी पाई जाती हैं। वसु का दूसरा बड़ा आविष्कार 'क्रेस्कोग्राफ' है। यह यन्त्र अपने आप लिखता जाता है कि पौधा प्रति सैकिंड कितना बढ़ रहा है। यह वास्तविकता को ५०० गुना बढ़ाकर दिखाता है। १९०६ में उन्होंने अपना ग्रंथ प्रकाशित कराया, जो पौधों के देह-व्यापार पर सबसे बड़ा ग्रन्थ है।

जगदीशचन्द्र वसु ने विज्ञान की जो अमूल्य सेवा की है, उसके उपलक्ष्य में स्वदेश और विदेशों ने उनका अपूर्व सम्मान किया है। १९०२ में पेरिस की 'विज्ञान-कांग्रेस' में वह भारतीय-वैज्ञानिक के नाते सम्मिलित हुए। १९०३ में उन्हें 'सी० आई० ई०' तथा १९०१२ में 'सी० एस० आई०' की उपाधि से सम्मानित किया गया। १९१७ में भारत सरकार ने उन्हें 'सर' की उपाधि दी। १८९५ में लन्दन-विश्वविद्यालय ने उन्हें 'डॉक्टर आव साइन्स' की उपाधि दी। १९२० में वे 'रायल सोसायटी' के फैलो मनोनीत हुए। पाँच वर्ष तक वे 'लीग-आफ-नेशन्स' की बौद्धिक सहयोग कमेटी के सदस्य रहे।

१९१५ में प्रेसिडेन्सी कालिज से अवकाश ग्रहण करने के पश्चात् आप एक स्वतन्त्र विज्ञानशाला स्थापित करने के लिए प्रयत्न करने लगे। ३० नवम्बर, सन् १९१७ को अपनी ५९ वीं वर्ष गाँठ के उपलक्ष्य में आपने अपनी पूर्व योजना के अनुसार अपने घर के निकट ही एक नये मकान में विज्ञानशाला की स्थापना की, जिसका नाम 'वसु विद्या-मन्दिर' रखा गया। इस अनुष्ठान में आपने अपनी गाढ़ी कमाई का लगभग ५ लाख रुपया व्यय किया था। इस कार्य के लिए उन्हें जनता से भी कुछ धन प्राप्त हुआ था। सरकार ने भी इस विज्ञानशाला को नियमित रूप से वार्षिक सहायता देने का प्रबन्ध किया। अपने जीवन के अन्तिम

वर्षों में आपने अपने समस्त आविष्कार और नव-निर्मित यन्त्र आदि भी इसी संस्था को सौंप दिए थे। मरते समय आप १५ लाख की सम्पत्ति भी संस्था को दान करके संस्था को राष्ट्र की सेवा के लिए अर्पित कर गए। वास्तव में इस विज्ञान-मन्दिर की स्थापना ने सदैव के लिए आपका नाम अमर कर दिया।

वसु कद के छोटे थे। उनके दिव्य चक्षु तथा विशाल चेहरे को देखकर प्रत्येक व्यक्ति भाँप जाता था कि वे कोई बड़े प्रतिभाशाली व्यक्ति हैं। वे धैर्यशाली, दृढ़-संकल्प, कोमल हृदय और सत्य-प्रिय व्यक्ति थे। उन्होंने धन की कभी परवाह नहीं की और अपने किसी आविष्कार को पेटेण्ट नहीं कराया। वे पहले व्यक्ति थे, जिन्होंने पश्चिम के लोगों के मस्तिष्क से इस विचार को उखाड़कर बाहर फेंका कि भारतीय लोग वैज्ञानिक शिक्षा देने में अयोग्य हैं। उन्होंने भारतवर्ष को उन देशों की पंक्ति में लाकर खड़ा कर दिया जो प्रतिभाशाली वैज्ञानिकों को जन्म देने में प्रसिद्ध हैं।

१९३६ ई० में आप बीमार हो गए और वायु-परिवर्तन के लिए 'गिरिडीह' चले गए। २३ नवम्बर १९३६ को ७८ वर्ष की आयु में हृदय की गति बन्द हो जाने से वहीं आपका देहावसान हो गया। अपने समस्त जीवन को राष्ट्र के हित में ही खपाकर आपने एक उज्ज्वल आदर्श हमारे सामने रख दिया है। आपके अद्भुत आविष्कार सर्वदा हमें एक प्रेरणाप्रद सन्देश देते रहेंगे। राष्ट्र उनकी सेवाओं के लिए आभारी है।

३

# डॉक्टर प्रफुल्लचन्द्र राय

भारत के जिन वैज्ञानिकों ने अपने विज्ञान-सम्बन्धी अनुसन्धानों द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त की है, उनमें डॉक्टर प्रफुल्लचन्द्र राय का एक विशिष्ट स्थान है। आपने स्वदेश की वैज्ञानिक, आर्थिक, सामाजिक एवं शिक्षा-सम्बन्धी उन्नति के लिए जो स्तुत्य प्रयत्न किये हैं, उनके कारण आपका स्थान एक विशुद्ध वैज्ञानिक की कोटि से कहीं ऊँचा उठकर 'राष्ट्र-निर्माताओं' में बन गया है। आपके जीवन का प्रत्येक क्षण राष्ट्र-उन्नति एवं राष्ट्र-सेवा में ही व्यतीत हुआ है।

डॉ० प्रफुल्लचन्द्र राय २ अगस्त, १८६१ ई० को बंगाल प्रान्त के खुलना जिले के 'ररली कतिपरा' नामक गाँव में उत्पन्न हुए थे। आपके पिता श्री हरिश्चन्द्र राय एक समाज-सेवी और शिक्षा-प्रेमी व्यक्ति थे। उन्होंने अपने गाँव में 'मिडिल स्कूल' की स्थापना की थी। यह स्कूल अब उन्नति करके हाई स्कूल बन गया है। प्रफुल्लचन्द्र राय की आरम्भिक शिक्षा उनके पिता के द्वारा स्थापित इसी स्कूल में हुई। इस स्कूल की शिक्षा समाप्त करने के पश्चात् आपको कलकत्ता के तत्कालीन 'हेयर स्कूल' में प्रविष्ट कराया गया, जो उन दिनों बहुत प्रसिद्ध था।

इस स्कूल में चार वर्ष तक अध्ययन करने के पश्चात वे अचानक बहुत बीमार हो गए। विवश होकर उन्हें दो वर्ष तक स्कूल की पढ़ाई बन्द करनी पड़ी। उन दिनों भी आप रोग-शय्या पर पड़े-पड़े पुस्तकों का अध्ययन करते रहते थे। बीमारी से उठने पर फिर आपको 'एलबर्ट स्कूल' में भर्ती कराया गया। १८७९ में आपने मैट्रिक की परीक्षा पास की। इसके पश्चात् आप कलकत्ता के 'मेट्रोपॉलिटन इंस्टीट्यूट' में प्रविष्ट हो गए और १८८२ तक इस संस्था में अध्ययन करते रहे।

अपने छात्र-जीवन के प्रारम्भ से ही श्री राय की रुचि साहित्य और इतिहास की अपेक्षा विज्ञान की ओर अधिक थी। जिन दिनों की यह बात है तब तक मेट्रोपालिटन इंस्टीट्यूट में विज्ञान के सक्रिय अध्ययन का कोई विशेष प्रबन्ध नहीं हो पाया था, अतः वे अपनी विज्ञान-सम्बन्धी पिपासा को शान्त करने के लिए प्रेसीडेन्सी कालिज में चले जाया करते थे। सौभाग्यवश वहाँ आपको सर जान इलियट और सर अलैग्जेण्डर पेडलर-जैसे सुयोग्य विद्वानों का सहयोग मिल गया। इससे भौतिक और रसायन-शास्त्र के अध्ययन में उन्हें कोई कठिनाई न हुई। इन दोनों विद्वानों के सहयोग को पाकर मानों उनके लिए इस दिशा में उन्नति का मार्ग ही खुल गया। यहाँ यह उल्लेखनीय बात है कि भारत में उन दिनों विज्ञान की शिक्षा का समुचित प्रबन्ध नहीं हो पाया था, अतः उन्होंने विलायत जाकर अध्ययन करने की सोची। अपनी अपूर्व मेधा तथा परिश्रम के कारण बी० ए० करने के साथ-साथ आपने 'गिल्क्राइस्ट' छात्र-वृत्ति भी प्राप्त कर ली। इस छात्र-वृत्ति के द्वारा आपकी विदेश जाकर विज्ञान का सक्रिय अध्ययन करने की प्रवृत्ति को पर्याप्त प्रेरणा मिली और शीघ्र ही आप इंगलैंड चले गए। वहाँ पहुँचकर वे 'एडिनबरा-विश्वविद्यालय' में दाखिल हो गए और ६ वर्ष तक विज्ञान-सम्बन्धी समस्त प्रवृत्तियों का सक्रिय अध्ययन किया।

यद्यपि वहाँ पर आपने रसायन और भौतिक विज्ञान विषय लिया

था, फिर भी इसके अध्ययन के साथ-साथ वनस्पति-विज्ञान तथा जन्तु-विज्ञान का सक्रिय अध्ययन भी आपने बड़ी तत्परता से किया। आपकी प्रतिभा वहाँ पर अनेक प्रसिद्ध वैज्ञानिकों के सम्पर्क में आने से चमक उठी। सन् १८८५ में आपने बी॰ एस-सी॰ की परीक्षा पास करके फिर दो वर्ष उपरान्त डी॰ एस-सी॰ की परीक्षा भी बड़े सम्मानपूर्वक उत्तीर्ण की। आपकी प्रतिभा और विद्वत्ता का ही यह परिणाम था कि आपको रसायन-विज्ञान में विशेष योग्यता प्रदर्शित करने के उपलक्ष्य में 'होप छात्र-वृत्ति' भी मिल गई थी।

जब आपने डी॰ एस-सी॰ की परीक्षा अत्यन्त सम्मानपूर्वक पास कर ली, तब आपने वहाँ के सभी प्रोफेसरों आदि के सहयोग से लन्दन के इण्डिया आफिस में इण्डियन एजुकेशन सर्विस (आई॰ ई॰ एस॰) की परीक्षा भी देनी चाही। इसके लिए आपने उन सब प्रमाण-पत्रों को भी सम्बन्धित अधिकारियों को दिखलाया, जो कि उन्हें उनकी विज्ञान-सम्बन्धी असाधारण प्रतिभा प्रदर्शित करने के उपलक्ष्य में वहाँ मिले थे। किन्तु रंग-भेद की नीति ने आपकी इस इच्छा को पूर्ण नहीं होने दिया और सब तरह से योग्य होते हुए भी आप इसमें सफल नहीं हो सके। परिणामस्वरूप आप भारत लौट आए।

भारत में लौटने पर श्री राय को सन् १८८६ में प्रेसीडेन्सी कालिज में प्रोफेसर नियुक्त कर दिया गया। कालिज में अध्यापन-कार्य करने के उपरान्त आपके पास जो समय बचता था, उसमें आपने अपनी विज्ञान-सम्बन्धी खोज करने का कार्य जारी रखा। यद्यपि उन दिनों प्रेसीडेन्सी कालिज में प्रयोगशाला का कोई विशेष प्रबन्ध न था, किन्तु फिर भी वे हतोत्साह नहीं हुए और विद्यार्थियों में दिन-प्रतिदिन इस शुष्क विषय के प्रति रुचि उत्पन्न करते रहे। धीरे-धीरे आपने कुछ अन्वेषण भी किये जिनका विवरण उन्होंने 'प्रेसीडेन्सी कालिज में रासायनिक अनुशीलन कार्ड' नामक पुस्तिका में प्रकाशित कराया। इस पुस्तिका के प्रकाशन के बाद से आपकी खोजों की ओर विज्ञान-जगत् का ध्यान

गया और आप की गिनती भारत के गण्य-मान्य वैज्ञानिकों में होने लगी।

आपने ही सर्वप्रथम पारे और उसके संक्रमण से बनने वाले पदार्थों के सम्बन्ध में खोज की और आपने ही सर्वप्रथम 'पारद नाइ-ट्राइट' नामक पारद यौगिक तैयार किया। केवल इसी एक प्रयोग के द्वारा आपकी अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति और भी बढ़ गई। देश-विदेश के अनेकों वैज्ञानिकों ने आपके इन प्रयोगों की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की थी। धीरे-धीरे आपने इतनी प्रगति की कि अपने इस प्रयोग की सहायता से आपने और भी अनेक अन्वेषण अपने शिष्यों के साथ किये और बहुत-सी गूढ़ तथा जटिल बातों पर प्रकाश डाला। इसी बीच आपने अमोनियम नाइट्राइट, जिंक, कैडमियम, कैल्सियम, बेरियम और मग-नीशियम आदि के सम्बन्ध में अनेक लाभकारी प्रयोग किये, जिनसे यह भलीभाँति सिद्ध हो गया कि भारतीय भी आधुनिक विज्ञान के अनुशीलन तथा उसकी विविध प्रवृत्तियों का परिचय प्राप्त करने में किसी भी देश से कम नहीं है।

जब उक्त प्रयोगों के कारण श्री राय की अच्छी ख्याति हो गई तो बंगाल-सरकार ने सन् १९०४ में उन्हें 'पारद नाइट्राइट' के सम्बन्ध में विस्तृत अन्वेषण करने के लिए फिर यूरोप भेजा। आपने वहाँ जाकर उस देश की अनेक रसायनशालाओं का निरीक्षण किया। वहाँ पर उस देश के वैज्ञानिकों द्वारा आपका बहुत सम्मान किया गया, यही नहीं 'केमिकल सोसाइटी लन्दन' तथा 'एकेडेमी ऑफ साइंस' फ्रांस ने आपके सम्मान में विशेष उत्सवों के आयोजन भी किये। लन्दन की 'केमिकल-सोसाइटी' के आप फैलो भी बनाये गए।

वे केवल एक सफल वैज्ञानिक ही नहीं प्रत्युत एक सफल लेखक भी थे। यदि लेखन-पटुता आप में न होती तो कदाचित् आपको इतनी ख्याति न मिल पाती, जो आज उन्हें मिल सकी है। उन्होंने अपनी इस प्रतिभा तथा क्षमता का अपूर्व परिचय दिया और विज्ञान-सम्बन्धी

अनेक ग्रन्थ लिखे। 'हिन्दू रसायन का इतिहास' आपकी प्रसिद्ध रचनाओं में है। १०–१५ वर्ष के अनवरत परिश्रम के बाद आपने यह उत्कृष्ट ग्रन्थ प्रस्तुत किया था। इस ग्रन्थ में आपने प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों के आधार पर भारतीय रसायन-विज्ञान की प्राचीनता और उत्कृष्टता प्रमाणित की है। इस पुस्तक के प्रकाशित होते ही पाश्चात्य विज्ञान-क्षेत्र में बड़ी हलचल मची; क्योंकि इसमें यह सिद्ध किया गया था कि १२वीं तथा १४वीं शताब्दी के भारतीय रसायन विद्या में पूर्ण पारङ्गत थे।

आपने अपने कालिज के अध्यापन-काल में अनेक छात्रों में विज्ञान-प्रेम जगाकर देश की जो सेवा की, उसके लिए देश उनका ऋणी है। अपने १०–१५ वर्ष के अध्यापन के दिनों में आपके जीवन का प्रत्येक क्षण विज्ञान-साधना में ही बीता। अध्यापन-कार्य से विरत होने पर आपका कार्य-क्षेत्र और भी विस्तृत हो गया और आप सर आशुतोष मुकर्जी द्वारा संस्थापित तथा संचालित 'साइंस कालिज' की रसायनशाला के डायरेक्टर नियुक्त हो गए। इस पद पर आप बहुत दिन तक रहे।

आचार्य राय की विज्ञान-साधना केवल विशुद्ध विज्ञान तक ही सीमित नहीं है। उन्होंने अपने अध्यवसाय से जो ज्ञान उपार्जित किया है, उसको क्रियात्मक रूप देने के लिए आपने अनेक प्रयास किये। उनका सदा से ही यह दृष्टिकोण रहा है कि जिस प्रकार भी हो सके देश की औद्योगिक, वैज्ञानिक तथा शैक्षणिक उन्नति हो। इस सम्बन्ध में आपकी सबसे बड़ी देन 'बंगाल कैमिकल एण्ड फार्मेस्युटिकल वर्कर्स' है, जिसकी स्थापना सन् १८६२ में हुई थी। इसका सुचारु रूप से संगठन और संचालन भारतीय जनता के लिए एक ज्वलन्त प्रकाश-स्तम्भ का कार्य करता रहेगा।

आपकी विज्ञान-सम्बन्धी विविध सेवाओं को दृष्टि में रखकर देश ने अनेक बार आपको विज्ञान-कांग्रेस का सभापति निर्वाचित करके अपने को गौरवान्वित किया है। आपने अपने अथक उद्योग से रसायन-सम्बन्धी खोज का कार्य करने वाले विभिन्न वैज्ञानिकों को एकजुट

करके उनमें पारस्परिक सहयोग तथा सहकारिता की भावना का संचार किया। इसके सम्बन्ध में निरन्तर ३-४ वर्ष तक आप आन्दोलन भी करते रहे और अन्त में सन् १९२४ में आपने 'इण्डियन कैमिकल सोसाइटी' की स्थापना कर दी। यह श्री राय की अध्यवसायिता तथा कार्य-क्षमता का ही परिणाम है कि आज इस संस्था की गणना विश्व की रसायन-सम्बन्धी श्रेष्ठ संस्थाओं में की जाती है।

हम यह पिछले पृष्ठों में भी उल्लेख कर चुके हैं कि आचार्य राय की गति साहित्य में भी विज्ञान के समान ही थी। उनके 'हिन्दू रसायन का इतिहास' में विज्ञान, इतिहास तथा साहित्य की त्रिवेणी के मनोहारी दर्शन होते हैं। आपने 'गदर के पूर्व और बाद का भारत' नाम से एक प्रामाणिक ग्रन्थ लिखा है। अंग्रेजी के अतिरिक्त बँगला में भी आप कुछ-न-कुछ बराबर लिखते ही रहते हैं।

ऐसा बहुत कम देखने में आया है कि जो व्यक्ति उत्कृष्ट साहित्यकार या वैज्ञानिक है वह महान् समाज-सेवी भी हो; आचार्य राय इसके अपवाद है। आपकी समाज-सम्बन्धी सेवाएँ ठोस और रचनात्मक हैं। स्वदेशी-आन्दोलन के दिनों में आपने खादी के प्रचार में पर्याप्त योग दिया था। उन्होंने सारे प्रान्त में पैदल घूम-घूमकर जगह-जगह स्वदेशी-प्रदर्शनियों का संगठन करके उनका उद्‌घाटन किया। जब समस्त देश में दमन का दावानल भड़क रहा था, तब आपके ही प्रबल प्रयत्नों से बंगाल में जन-जागृति की अपूर्व लहर दौड़ गई थी। उनकी समाज-सेवाओं का कहाँ तक व्याख्यान किया जाय! अछूतोद्धार के पुनीत कार्य में भी आप रुचि से भाग लेते थे। आपकी अछूतोद्धार-सम्बन्धी सेवाओं को दृष्टि में रखकर ही १९१७ में आपको अखिल भारतीय समाज-सुधार-कान्फ्रेंस का सभापति बनाया गया था। उसके अध्यक्ष-पद से दिये गए भाषण से उनके विचारों का पता लगता है।

जब सन् १९२२ में उत्तरी बंगाल में बाढ़ आई, तब उन्होंने वहाँ की बाढ़-पीड़ित जनता की सेवा रात-दिन लगकर की। भीषण अकाल

के दिनों में भी सेवा-कार्य में वे किसी से पीछे नहीं रहे। इस अवसर पर आपने बेकारी और भूख के निवारण के लिए 'खादी और चरखे' का जगह-जगह प्रचार किया। एक वैज्ञानिक होते हुए भी आपका चरखे की उपयोगिता में विश्वास अवश्य ही आश्चर्य की बात है। यद्यपि आपकी सेवाओं को दृष्टि में रखकर ब्रिटिश सरकार ने आपको सी०आई० ई० तथा 'सर' की सम्मानपूर्ण उपाधियाँ प्रदान की थीं, तथापि आपने उसकी कुत्सित नीति की भर्त्सना करने में कभी कमी नहीं की।

संक्षेप में आचार्य प्रफुल्लचन्द्र राय ने अपना सम्पूर्ण जीवन मातृ-भूमि की सेवा में उत्सर्ग कर दिया है। शिक्षा, विज्ञान, समाज-सुधार, राजनीति तथा स्वदेशी व्यवसायों की उन्नति आदि अनेक क्षेत्रों में सक्रिय रूप से आपने भारत की सेवा की है और इन सेवाओं के लिए आधुनिक भारत के निर्माताओं में आपका नाम सदैव अग्रगण्य रहेगा।

४

# श्रीनिवास रामानुजन्

जिन महान् वैज्ञानिकों के कार्य-कलापों के कारण भारत का मस्तक विश्व के विज्ञान-जगत् में ऊँचा हुआ है उनमें श्री श्रीनिवास रामानुजन् का नाम विशेष उल्लेखनीय है। उन्होंने अपनी कार्य-क्षमता और योग्यता के बल पर भारत को जो गौरव प्रदान किया वह स्तुत्य है। उनके कार्यों का विवरण भावी भारत के इतिहास में स्वर्णाक्षरों में लिखा जायगा। अपने छोटे से जीवन में केवल २७ वर्ष की अवस्था में ही आपने गणित-सम्बन्धी जो महत्त्वपूर्ण खोज करके अनेक सिद्धान्त स्थिर किये थे, वे वास्तव में संसार को चमत्कृत कर देने वाले हैं।

श्रीनिवास रामानुजन् मद्रास प्रान्त के इरोद नामक ग्राम के एक अत्यन्त निर्धन परिवार में २२ दिसम्बर, १८८७ ई० को उत्पन्न हुए थे। उनका परिवार अत्यन्त साधारण स्थिति का था। किसी को भी यह आशा नहीं थी कि इतने मामूली परिवार में ऐसे महान् व्यक्ति का जन्म होगा। उनके जन्म के सम्बन्ध में यह बात प्रसिद्ध है कि जब उनकी माता को कोई सन्तान आदि नहीं हुई तो वे अपने घर (माता के यहाँ) चली गईं। जब उनकी माता ने अपनी पुत्री को सन्तान के लिए उत्सुक

देखा तो उन्होंने नामक्कल नामक एक समीपवर्ती ग्राम में जाकर नाम-गिरी देवी की पूजा-अर्चा की। कहा जाता है कि इसी नामगिरी देवी के प्रताप से रामानुजन् का जन्म हुआ था।

धीरे-धीरे रामानुजन् बड़े हुए और अक्षर-ज्ञान की शिक्षा उन्होंने गाँव की ही पाठशाला में ग्रहण की। बाद में कुम्भकोणम हाई स्कूल से प्राइमरी की परीक्षा सन् १८९८ ई० में पास की। इस परीक्षा में आप कक्षा के सब छात्रों में प्रथम आए थे। उनकी इस कुशाग्र बुद्धि और अध्ययनशीलता को देखकर पाठशाला के अधिकारियों ने उनकी फीस आधी कर दी। रामानुजन् का मन पुस्तकों के अतिरिक्त गणित के प्रश्न हल करने में अधिक लगता था। यही कारण था कि उन्होंने बीजगणित-जैसे कठिन विषय को भी तीसरी कक्षा में ही हृदयंगम कर लिया था। यहाँ यह उल्लेखनीय बात है कि बीजगणित की पद्धति इतनी कठिन है कि वह आजकल भी इण्टरमीजिएट कक्षाओं में पढ़ाया जाता है। यह रामानुजन् की असाधारण प्रतिभा का ही द्योतक है कि उन्होंने इतनी थोड़ी आयु में उसे हृदयंगम कर लिया था। त्रिकोण मिति के प्रश्नों को वे बिना किसी की सहायता के इतनी सरलतापूर्वक हल कर लेते थे कि जिसे देखकर बड़े-बड़े गणितज्ञ भी दाँतों तले-अँगुली दबाते थे।

जब वे पाँचवीं श्रेणी में पहुँचे तो 'ज्या' और 'कोज्या' के सिद्धान्त भी उन्होंने हल कर लिए। इन सिद्धान्तों का सर्वप्रथम प्रचलन आयलर नामक एक पाश्चात्य गणितज्ञ ने किया था। किन्तु जब रामानुजन् ने ये हल निकाले थे तब तो आयलर का नाम भी कोई नहीं जानता था। रामानुजन् की यह विशेषता थी कि वे सब हलों को मौलिक रूप से ही निकालते थे। उन्होंने अपने बाल्य-काल में ही गणित-सम्बन्धी खोजों का जो महत्त्वपूर्ण कार्य कर दिखाया, उसे बड़े-से-बड़े गणिताचार्य भी नहीं कर सकते थे।

उनकी अपनी रुचि पढ़ने और पुस्तकों के अवलोकन में तनिक

भी नहीं थी। अतः हर समय वे गणित-सम्बन्धी पुस्तकें पढ़ने ही में तल्लीन रहते थे। उन दिनों गणित-सम्बन्धी अच्छी पुस्तकें कठिनाई से ही मिलती थीं। एक बार जब उन्हें अपने किसी मित्र के द्वारा सुप्रसिद्ध पाश्चात्य गणितज्ञ कार द्वारा लिखित एक ग्रन्थ मिला तो उनकी प्रसन्नता का ठिकाना न रहा। ग्रन्थ के मिलते ही वे उसके अनुशीलन में ऐसे व्यस्त हुए कि खाना-पीना तक भूल गए। कार के इस ग्रन्थ ने रामानुजन् के ज्ञान में और भी अभिवृद्धि की तथा वे इससे प्रेरणा पाकर और भी सिद्धांत स्थिर करने में सफल हुए।

१७ वर्ष की आयु में रामानुजन् ने मैट्रिक की परीक्षा बड़ी योग्यता पूर्वक उत्तीर्ण की। फलस्वरूप उन्हें सरकार की ओर से छात्रवृत्ति प्रदान की गई। कालिज तक पहुँचते-पहुँचते वे गणित में इतने लीन हो गए थे कि अन्य विषयों के प्रति उनका रुझान रह ही नहीं गया था। परिणाम यह हुआ कि उनकी अंग्रेज़ी कच्ची रह गई और वे फर्स्ट ईयर में फेल हो गए। फेल हो जाने के कारण उनकी छात्रवृत्ति भी बन्द कर दी गई और कालिज भी उन्हें छोड़ना पड़ा। उन्हें पढ़ाई में गणित के अतिरिक्त और किसी विषय से दिलचस्पी नहीं थी। उनके परिवार की आर्थिक स्थिति भी ऐसी नहीं थी कि वे आगे अपना अध्ययन जारी रख सकते।

इसका परिणाम यह हुआ कि कालिज छोड़ देने से उनकी रुचि गणित-सम्बन्धी खोजों में और भी हो गई। वे दिन-रात गणित के सिद्धांतों के अध्ययन-अनुशीलन में ही व्यस्त रहने लगे। सन् १६१६ तक वे घर पर रहकर ही गणित के सक्रिय अध्ययन में तल्लीन रहे। अध्ययन के रुक जाने और परिवार की आर्थिक कठिनाइयों ने उन्हें और भी चिन्ता में डाल दिया। इसी बीच उनका विवाह हो गया। विवाह के उपरांत परिवार के भरण-पोषण की व्यवस्था में चिंतित रहने के कारण उन्हें नौकरी की तलाश करनी पड़ी। किंतु उन्हें नौकरी भी नहीं मिली; क्योंकि नौकरी के लिए भी योग्यता के अतिरिक्त और कई बातों

की आवश्यकता होती है, जो उनमें नहीं थीं।

उस समय रामानुजन् जहाँ भी जाते थे, वहाँ अपने स्वनिर्मित गणित के नूतन सिद्धान्तों को दिखाते थे, जिन्हें देखकर सभी चकित रह जाते थे, किन्तु उन्हें नौकरी दिलाने में कोई भी समर्थ न था। अन्त में बहुत दौड़-धूप करने के पश्चात् श्री रामचन्द्रराव के प्रयत्न से रामानुजन् को 'मद्रास पोर्टट्रस्ट' में ३०) मासिक की नौकरी मिली। इन्हीं दिनों कुछ मित्रों की सहायता से रामानुजन् के कई लेख मद्रास की 'इण्डियन मैथमेटिकल सोसायटी' के मुखपत्र में प्रकाशित हुए। दिसम्बर १९१२ में उन्होंने एक लेख के साथ अपने कुछ प्रश्न भी प्रकाशित कराए। इन लेखों और प्रश्नों के प्रकाशन से गणित-संसार में रामानुजन् की काफी ख्याति हो गई।

इसी समय सरकारी वेधशालाओं के डायरेक्टर जनरल वाकर साहब जब मद्रास आ गए तो उन्हें रामानुजन् के कुछ नवीन सिद्धान्त दिखलाये गए। उन्हें देखकर डॉक्टर वाकर साहब बहुत चकित हुए और उन्होंने रामानुजन् की सहायता करने का निश्चय किया। उन्होंने 'मद्रास-विश्वविद्यालय' द्वारा रामानुजन् को छात्रवृत्ति दिलाने का भरपूर प्रयत्न किया। अस्तु, उनके सत्प्रयत्नों से आपको मद्रास-विश्वविद्यालय से दो वर्ष के लिए ७५) मासिक की छात्रवृत्ति मिल गई। नौकरी से छुटकारा मिलने पर, और आर्थिक चिन्ताओं से मुक्त होकर रामानुजन् को अपना सारा समय निश्चिन्त होकर गणित के अध्ययन में लगाने का सुअवसर प्राप्त हो गया।

कुछ समय पश्चात् अपने मित्रों की सलाह से आपने कुछ लेख ट्रिनिटी कालिज के फैलो, प्रसिद्ध गणितज्ञ डॉ० जी० एच० हार्डी के पास भेजे और पत्र लिखकर उनसे उनके प्रकाशन का प्रबन्ध कर देने और उन पर अपनी सम्मति देने का अनुरोध किया। प्रो० हार्डी और दूसरे अंग्रेज़ गणितज्ञ आपके लेखों को देखकर बहुत प्रभावित हुए। उन्होंने रामानुजन् को शीघ्र-से शीघ्र कैम्ब्रिज बुलाने का प्रयत्न किया।

उन्हीं दिनों ट्रिनिटी कालिज के एक और फैलो तथा गणित के प्रोफे-सर 'श्री ई० एच० नेविल' भारत आये। मद्रास-विश्वविद्यालय में आकर उन्होंने रामानुजन् से भेंट की और विश्वविद्यालय के अधिकारियों को रामानुजन् को विलायत जाने के लिए छात्रवृत्ति देने को प्रेरित किया। अतः उनके प्रयत्न से अधिकारियों ने सरकार की अनुमति से रामानुजन को २५० पौंड वार्षिक की छात्रवृत्ति देने के अतिरिक्त प्रारम्भिक व्यय और सफर-खर्च देना स्वीकार कर लिया। १७ मार्च १९१४ को मि० नेविल के साथ आप इंग्लैंड को रवाना हो गए। इंग्लैंड में जाकर उन्हें ६० पौंड की छात्रवृत्ति और भी मिल गई। वहाँ पर रामानुजन् ने डॉ० हार्डी और लिटिलवुड की सहायता से अपने अध्ययन को और भी पुष्ट किया।

रामानुजन् १९१७ तक कैम्ब्रिज में रहे। इस बीच में उन्होंने अपनी अलौकिक प्रतिभा से इंग्लैंड ही क्या, संसार-भर के महान् गणितज्ञों को चकित कर दिया। आपके १२-१३ लेख यूरोप की प्रतिष्ठित पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए। इनसे उनका सम्मान और भी अधिक बढ़ गया। बाद में वे 'रायल सोसायटी के फैलो' बनाये गए। इसके बाद उन्हें ट्रिनिटी कालिज का फैलो भी बनाया गया और वहाँ से २५० पौंड प्रति-मास की छात्र-वृत्ति भी मिलनी प्रारम्भ हो गई, जो उन्हें निरन्तर ६ वर्ष तक मिलती रही। इस सम्मान को पाने वाले वे प्रथम भारतीय थे।

महायुद्ध के बीतने पर २७ मार्च १९१९ को वे भारत लौटे। उनको इंग्लैंड का जल-वायु अनुकूल नहीं पड़ा था, इसलिए वे बीमार रहने लगे थे। भारत वापिस आने पर उनकी चिकित्सा का पर्याप्त प्रबन्ध किया गया। किन्तु मर्ज बढ़ता गया ज्यों-ज्यों दवा की। उनके मस्तिष्क का प्रकाश अंत तक मंद नहीं हुआ था। मृत्यु-शय्या पर भी उन्होंने गणित के महान् कार्य सम्पन्न किये। अंत में २६ अप्रैल १९२० को मद्रास के पास चेतपुर नामक एक ग्राम में यह महापुरुष स्वर्ग सिधार गए।

रामानुजन् एक विलक्षण प्रतिभा के मानव थे। गणित के कठिन प्रश्न वे बात-की-बात में हल कर लेते थे। उनकी अधिकतर खोजें संख्याओं

की मीमांसा से सम्बन्ध रखती हैं। संख्याओं और अंकों की मीमांसा और यूढ़यौगिक संख्याओं पर उन्होंने अत्यन्त महत्वपूर्ण लेख लिखे थे। विषम बीज गणित-सम्बन्धी लेखों और वर्गों के योग द्वारा संख्याओं की प्रदर्शन-विधि से उनका पाण्डित्य भली-भाँति सिद्ध होता है। उनके अधिकांश लेख लन्दन की मैथेमेटिकल सोसायटी और कैम्ब्रिज की फिलासाफिकल सोसायटी की मुखपत्रिकाओं में प्रकाशित हुए हैं। आपके सब अपने मौलिक निबन्धों का संग्रह बड़े आकार के ३२५ पृष्ठों के ग्रंथ में १९२७ में कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस से प्रकाशित हुआ था। इसका सम्पादन डॉ० हार्डी, डॉ० बी० एम० विलसन और श्री शेष अय्यर ने किया था। इस ग्रंथ के अध्ययन के लिए बड़े उच्च और नूतन गणित के ज्ञान की आवश्यकता है।

एक बार सुप्रसिद्ध गणितज्ञ प्रो० हार्डी ने उनके गणित-सम्बन्धी सिद्धान्तों की विशेषता पर प्रकाश डालते हुए कहा था—

"यह अत्यन्त विस्मयजनक प्रतीत होता है कि श्रीनिवास रामानुजन् ने इतनी छोटी-सी अवस्था में इतने महत्वपूर्ण और कठिन प्रश्नों को सिद्ध कर दिया है। स्वप्न में भी ऐसे प्रश्नों को हल करना आश्चर्य से रहित नहीं मालूम होता। इन्हीं प्रश्नों के हल करने में यूरोप के बड़े-से-बड़े गणितज्ञों को १०० वर्ष से अधिक लग गए और तिस पर भी उन में से बहुत से तो आज तक भी हल नहीं किये जा सके।"

रामानुजन् बड़े विनयशील और विनम्र स्वभाव के व्यक्ति थे। संसार का एक महान् गणितज्ञ होकर तथा देश-विदेशों से अपूर्व सम्मान पाकर भी उनकी विनम्रता और सादगी में कोई अन्तर नहीं आया था। वास्तव में उनमें एक महापुरुष के सभी गुण विद्यमान थे। ऐसे महान व्यक्ति पर भारतवर्ष जितना भी गर्व करे, थोड़ा है।

५

# डॉक्टर शान्तिस्वरूप भटनागर

डॉ० शान्तिस्वरूप भटनागर भारत के उन श्रेष्ठ वैज्ञानिकों में हैं, जिन्होंने विज्ञान-संसार में भारत का मस्तक ऊँचा किया है। एक साधारण स्थिति के परिवार में जन्म लेकर अपने परिश्रम, प्रतिभा और अदम्य उत्साह से उच्च कोटि का ज्ञान और यथेष्ट धन अर्जित करके आपने यह सिद्ध कर दिखाया है कि सफलता और प्रसिद्धि केवल बड़े और सम्पन्न घरों तक ही सीमित नहीं है। आप भारत के ही नहीं, प्रत्युत संसार के एक प्रख्यात रासायनिक हैं।

डॉ० शान्तिस्वरूप भटनागर का जन्म २१ फरवरी, १८९४ ई० को पंजाब के सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक स्थान भेड़ा में हुआ था। आपके पिता ला० परमेश्वरी सहाय लाहौर के डी० ए० वी० हाई स्कूल में ५०) मासिक पर अध्यापक थे। डॉ० शान्तिस्वरूप भटनागर की अवस्था अभी ८ मास की ही होगी कि पिता की छत्रछाया सिर से उठ गई। यह कौन जानता था कि यह पितृ-हीन बालक किसी दिन भारत का श्रेष्ठ वैज्ञानिक होगा।

पिता की मृत्यु के पश्चात् बालक शान्तिस्वरूप का पालन-पोषण उनके नाना मुंशी प्यारेलाल के संरक्षण में सिकन्दराबाद में हुआ। प्रारम्भिक शिक्षा भी सिकन्दराबाद के ए० वी० हाईस्कूल में ही हुई।

बाद में इनके पिता के अनन्य मित्र ला० रघुनाथसहाय ने इन्हें अपने पास लाहौर बुला लिया, जो उन दिनों लाहौर के दयालसिंह हाईस्कूल के हेडमास्टर थे। अतः शान्तिस्वरूप भी दयालसिंह हाईस्कूल में प्रविष्ट करा दिये गए।

अपने बाल्य-काल से ही शान्तिस्वरूप बड़े कुशाग्र बुद्धि थे। आपने आठवीं श्रेणी की परीक्षा भी विशेष योग्यता के साथ उत्तीर्ण करके छात्रवृत्ति प्राप्त की थी। आपका झुकाव प्रारम्भ से ही विज्ञान की ओर था। एक बार तो खेल-खेल में ही आपने टेलीफोन भी बनाया था और अपने अभिभावकों तथा हेडमास्टर से उस पर बातें भी की थीं। १९१२ में पंजाब-विश्वविद्यालय से मैट्रिक की परीक्षा उत्तीर्ण करके वे फिर वहीं दयालसिंह कालिज में प्रविष्ट हो गए।

सौभाग्यवश कालिज में आपका सम्पर्क सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक प्रो० रुचिराम साहनी से हो गया; वे उन दिनों वहीं पर पढ़ाते थे। जब प्रो० साहनी ने बालक शान्तिस्वरूप में प्रतिभा के अंकुर देखे तो उन्होंने उन्हें पर्याप्त प्रोत्साहन दिया और उनकी रुचि रसायन-विज्ञान में हो गई। उन्हीं दिनों श्री भटनागर की भेंट सुप्रसिद्ध विज्ञानवेत्ता श्री जगदीशचन्द्र वसु से हो गई। श्री वसु ने उन्हें पर्याप्त प्रोत्साहन दिया। सन् १९१४ में उन्होंने दयालसिंह कालिज में इन्टर की परीक्षा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की और बाद में क्रमशः एफ० एस-सी०, बी० एस-सी०, एम० एस-सी० की उपाधियाँ भी पंजाब-विश्वविद्यालय से प्राप्त कीं। इसी बीच लाला० रघुनाथसहाय (जिनके यहाँ आकर भटनागर जी ने शिक्षा आदि प्राप्त की थी) की सुपुत्री कुमारी लाजवन्ती से इनका विवाह हो गया।

अध्ययन की समाप्ति पर वे कुछ दिन तक मिशन कालिज और बाद में दयालसिंह कालिज में बहुत मामूली-से वेतन पर डिमांस्ट्रेटर की नौकरी करते रहे। किन्तु उनकी जीवन-धारा यहीं अवरुद्ध होने वाली नहीं थी। उनकी इच्छा विदेश जाकर रसायन-विज्ञान की उच्च शिक्षा

प्राप्त करने की थी। उनकी गरीबी उनकी उन्नति के मार्ग में रोड़े का काम कर रही थी। इस बीच में उन्हें दयालसिंह-कालिज-ट्रस्ट की ओर से छात्रवृत्ति मिल गई। वे १९१९ में भारत से अमरीका के लिए रवाना हो गए।

किन्तु अमरीका न जाकर वे मार्ग में इंगलैंड में ही रुक गए और वहाँ लन्दन-यूनीवर्सिटी के साइंस-कालिज में दाखिल हो गए। अपनी कार्यक्षमता और योग्यता से वहाँ भी आपने २००) मासिक की छात्रवृत्ति प्राप्त कर ली और लंदन-यूनिवर्सिटी से डी० एस-सी० की उपाधि भी आपको मिल गई। उसी वर्ष आप भारत वापिस आ गए और हिंदू-विश्वविद्यालय, काशी में ५००) मासिक वेतन पर प्रोफेसर हो गए। आपके आने से वहाँ की रसायनशाला उन्नति कर गई। आपके निरीक्षण में वहाँ पर अनेक उल्लेखनीय अन्वेषण हुए, जिनकी चर्चा भारत ही नहीं अपितु समस्त यूरोप के प्रतिष्ठित लेखकों ने की।

सन् १९२४ में आपको पंजाब-यूनिवर्सिटी ने अपनी रसायन-शालाओं के अन्वेषण-कार्य का निरीक्षण एवं संचालन करने के लिए निमंत्रित किया और १२५०) वेतन निश्चित किया। वहाँ जाकर आपकी प्रतिभा और भी चमक उठी। आपके अनुसन्धानों एवं अन्वेषणों की गणना आज भारत के उत्कृष्टतम आविष्कारों में की जाती है। आपकी प्रतिभा से समस्त उद्योगपति और वैज्ञानिक प्रभावित हुए। आपको अपने अन्वेषणों से जो आय होती थी उसे आप यूनिवर्सिटी कैमिकल सोसाइटी को दान कर देते थे।

लाहौर में आपने प्रारम्भ में 'भौतिक' और 'साधारण रसायन' की समस्याओं, विशेषकर 'प्रकाश रसायन' पर कार्य किया। अणुओं और उनके चुम्बकीय गुणों पर आपके कार्य विशेष उल्लेखनीय हैं। आपने अणुओं की रचना एवं गठन के बारे में भी कई नवीन बातों की खोज की है। इस सम्बन्ध में आपने ज्ञात किया है कि कोयला, जो 'अनु-चुम्बकीय पदार्थ' है, किसी दूसरे पदार्थ के 'अधिशोषण' करने पर

'चुम्बकीय' हो जाता है । आपने इस प्रयोग से आपने सिद्ध किया कि 'अभिशोषण' एक 'रासायनिक क्रिया' है । आपने एक नवीन यन्त्र अणुओं में चुम्बकीय तत्त्व मालूम करने के लिए तैयार किया । इन यन्त्रों के कारण आपकी अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति हो गई । चुम्बकीय रसायन पर आपने एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ भी लिखा है ।

डॉ० भटनागर का कार्य-क्षेत्र केवल विशुद्ध विज्ञान तक ही सीमित नहीं है । आपने 'औद्योगिक महत्त्व' के भी अनेक उपयोगी एवं 'व्याव-हारिक अनुसन्धान' किये हैं । रासायनिक उद्योग-धन्धों की उन्नति के लिए बहुत-सी नवीन और सुधरी हुई रीतियाँ मालूम की है । पंजाब के 'मिट्टी के तेल के कारखानों' ने आपके अन्वेषणों की सहायता से पर्याप्त लाभ उठाया है । आजकल सुप्रसिद्ध उद्योगपति बिड़ला, दिल्ली के सर श्रीराम, कानपुर के 'जुग्गीमल कमलापत', बम्बई की 'टाटा आयल मिल्स' कम्पनी प्रभृति अनेक व्यवसायी आपकी खोजों के पेटेण्ट अधिकार खरीदकर उनके प्रयोगों को कार्यान्वित करके समुचित लाभ उठा रहे हैं ।

डॉ० भटनागर ने और भी कई महत्वपूर्ण अनुसन्धान किये हैं, जिनसे भारत के उद्योग-धन्धों को बहुत-कुछ प्रोत्साहन मिलने की आशा है । आपके दो प्रसिद्ध अन्वेषण 'मिट्टी के तेल की रोशनी की ताकत बढ़ाना' और 'बिना गंध की मोमबत्ती तैयार' करना हैं । उद्योग-धन्धों तथा बड़ी-बड़ी मिलों और कारखानों के 'कूड़े-करकट को उपयोगी बनाने के बारे में' भी आपने उल्लेखनीय कार्य किये हैं । कपड़े की मिलों के 'गूदड़ से पश्मीना सिल्क' बनाने की नई तरकीब ढूँढ निकाली है । इसी प्रकार जूट के गूदड़ और बिनौले के तेल से 'बैकलाइट' प्रभृति कई उपयोगी वस्तुएँ तैयार करने की रीतियाँ मालूम की हैं । वनस्पति तेलों की सहायता से रेलगाड़ियों की धुरियों को चिकनाने वाले 'एक्सिल आयल' जैसे तेल बनाने में भी आप सफल हुए हैं । 'शीरे से टाइल्स', और 'विद्युत् अवरोधक पदार्थ, चावलों का रूप देने में भी आप सफल

हुए हैं। साबुनों के रंग और सुगन्ध को स्थायी बनाने में भी आपके प्रयोग उपयोगी एवं व्यावहारिक सिद्ध हुए हैं।

डॉ० भटनागर के इन औद्योगिक अन्वेषणों की महत्ता को भारत-सरकार ने भी स्वीकार किया है। १९३६ में सरकार की ओर से आपको 'ओ० बी० ई०' की उपाधि प्रदान की गई। १९४० में भारत-सरकार ने आपको अपने 'बोर्ड आफ इण्डस्ट्रियल एण्ड साइंटिफिक रिसर्च' का डायरेक्टर नियुक्त किया। इस पद पर नियुक्त होने के पश्चात् सरकारी एवं गैर सरकारी दोनों ही क्षेत्रों में आपकी लोकप्रियता बहुत बढ़ गई। १९४१ में सरकार की ओर से आपको 'सर' की उपाधि भी दी गई थी।

आपकी खोजें और मौलिक अन्वेषण विदेशों में भी यथेष्ट प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुके हैं। लन्दन की सुप्रसिद्ध 'कैमिकल सोसायटी' ने इन अन्वेषणों के उपलक्ष्य में आपको अपना फैलो बनाया है। इंग्लैंड की 'इंस्टिट्यूट आफ फिजिक्स' (भौतिक विज्ञान परिषद्) ने भी आपको अपना फैलो मनोनीत किया। इसके अतिरिक्त अनेक देशी और विदेशी वैज्ञानिक-संस्थाओं की ओर से आप सम्मानित किये गए हैं।

डॉ० भटनागर जहाँ एक श्रेष्ठ वैज्ञानिक हैं, वहाँ एक सच्चे देश-भक्त भी हैं। कांग्रेस की ओर से संगठित की जाने वाली राष्ट्र-निर्माण कमेटी के आयोजन एवं संगठन में आपने प्रमुख भाग लिया था। आप इस कमेटी की रसायन-उपसमिति और औद्योगिक शिक्षा एवं अनुसंधान-उपसमिति के सदस्य रहे थे। इसके अतिरिक्त आपने साहित्य की भी यथेष्ट सेवा की है। आपने उर्दू में विद्युत्-ज्ञान पर 'इल्मुलबर्क' नामक एक श्रेष्ठ पुस्तक प्रकाशित कराई है। उच्चकोटि के गद्य लेखक होने के साथ ही आपकी काव्य-साधना भी विशेष महत्व की है। आपको हिन्दी और उर्दू दोनों ही की कविताओं से प्रेम है। स्वयं भी अच्छी कविता करते हैं। काशी-विश्वविद्यालय के सुप्रसिद्ध 'विश्व-विद्यालय-गान' के रचयिता भी आप ही हैं। उर्दू में भी आप अच्छी कविता लिखते हैं। 'लजवन्ती' नाम से आपकी उर्दू कविताओं का

एक संग्रह भी निकला है।

वास्तव में डॉ० शांतिस्वरूप भारत के एक अनुपम रत्न हैं। आप एक साहसी, उत्साही एवं दृढ़-संकल्प मानव हैं। आपकी सच्चरित्रता अनुकरणीय है। आपका जीवन भारतीय युवकों के लिए एक उत्कृष्ट आदर्श उपस्थित करता है। आशा है आपका अनुकरण करके देश के नवयुवक अपनी विज्ञान-सेवाओं से भारत को गौरवान्वित करेंगे।

६

# डॉक्टर मेघनाद साहा

आज भारत को जिन वैज्ञानिकों के प्रयोगों और सिद्धान्तों के कारण विश्व में महान् स्थान प्राप्त है, उनमें डॉक्टर मेघनाद साहा अपना अन्यतम स्थान रखते हैं। ज्योतिर्भौतिक-विज्ञान-सम्बन्धी आपकी खोज विशेष स्थान रखती है। एक अत्यन्त साधारण-से देहाती परिवार में जन्म लेकर आपने अपनी अध्यवसायिता, कर्मठता तथा प्रतिभा से जो कार्य कर दिखाया, वह भारत ही नहीं अपितु विश्व के विज्ञान के इतिहास में स्वर्णाक्षरों में लिखे जाने योग्य है।

आपका जन्म सन् १८९३ में ढाका जिले के सिओरताला नामक ग्राम में हुआ था। आपके पिता एक अत्यन्त साधारण स्थिति के व्यक्ति थे। प्रारम्भिक शिक्षा आपने अपने ग्राम की पाठशाला में ही प्राप्त की। अपनी अपूर्व मेधा और प्रतिभा से बालक साहा ने धीरे-धीरे मिडिल और मैट्रिक की परीक्षाएं सम्मानपूर्वक उत्तीर्ण कीं। इन सब ही परीक्षाओं में वे पूर्वी बंगाल में सर्वप्रथम रहे थे। सन् १९११ में उन्होंने ढाका-विश्वविद्यालय से इण्टर की परीक्षा उत्तीर्ण की और कलकत्ता जाकर वे प्रेसीडेन्सी कालिज में दाखिल हो गए।

जब श्री साहा ने इण्टर की परीक्षा सम्मानपूर्वक उत्तीर्ण कर ली

तो वे कलकत्ता के ख्याति प्राप्त 'प्रेसीडेन्सी कालिज' में प्रविष्ट हुए। वहाँ पर उनकी भेंट श्री आचार्य प्रफुल्लचन्द्र राय और श्री जगदीशचन्द्र बसु-जैसे विज्ञान-जगत् के लब्ध-प्रतिष्ठ महारथियों से हुई। उनकी सेवा में रहकर उन्होंने विज्ञान-साहित्य का सक्रिय अध्ययन भी किया। इसका परिणाम यह हुआ कि वे अध्ययन के साथ-साथ स्वयं भी अनुसन्धान-सम्बन्धी कार्यों में रुचि लेने लगे। वैसे उन दिनों उनका झुकाव अधिकांशतः गणित की ओर था, तथापि वे इन दोनों आचार्यों के सम्पर्क में आकर रसायन और भौतिक विज्ञान के सम्बन्ध में भी विशेष तत्परता से छान-बीन करने लगे। इसी कारण सन् १९१३ में गणित में बी० एस-सी० परीक्षा उत्तीर्ण करके फिर सन् १९१५ में उन्होंने एम० एस-सी० की परीक्षा भी प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण कर ली।

अपने अध्ययन की समाप्ति पर सन् १९१६ में श्री साहा कलकत्ता विश्वविद्यालय की ओर से उसी वर्ष चालू होने वाले 'साइंस-कालिज' में गणित और भौतिक विज्ञान के प्रोफेसर नियुक्त हो गए। वहाँ पर आपका सम्पर्क प्रसिद्ध वैज्ञानिक श्री सी० वी० रमन् से हुआ। आपको उनके निरीक्षण तथा निर्देशन में कार्य करने का पर्याप्त अवसर मिला। आपने केब्रीपेरा की व्यक्तीकरण सीमा के सम्बन्ध में व्यक्तीकरण-मापक-यन्त्र की खोज की। धीरे-धीरे आप अपनी स्वतन्त्र खोज करने लगे। सन् १९१९ में आपको प्रेमचन्द्र रायचन्द्र छात्रवृत्ति मिली और उसी वर्ष आपने डी० एस-सी० परीक्षा के सम्बन्ध में एक स्वतन्त्र निबन्ध लिखा। उनके इस निबन्ध की परीक्षा विलायत के तीन प्रसिद्ध अंग्रेजों ने की थी, इस निबन्ध को पढ़कर उन तीनों महानुभावों ने इनकी खोजों और तत्सम्बन्धी सिद्धान्तों की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की थी। इसी वर्ष आप कलकत्ता-विश्वविद्यालय से डी० एस-सी० की उपाधि लेकर डॉक्टर हो गए।

डॉक्टर होने के उपरान्त आपने ज्योतिर्भौतिक विज्ञान का विशेष अध्ययन प्रारम्भ किया और इस सम्बन्ध में अनेक मौलिक अन्वेषण

किये । सूर्य रश्मि-चित्रों से सम्बन्धित अनेक जटिल समस्याओं ने आपका ध्यान अपनी ओर विशेष रूप से आकर्षित किया । उन दिनों आपके अतिरिक्त विश्व के अन्य बहुत-से वैज्ञानिक इस सम्बन्ध में अपनी-अपनी खोज करने में लगे थे । आपके अनवरत अध्यवसाय और लगन का यह परिणाम हुआ कि सन् १६२० में उन्होंने इसका समाधान निकाल लिया । आपने यह परिणाम निकाल लिया कि सूर्य के वर्ण-मण्डल में ऊँचे ताप-क्रमों तथा अल्प दबाव पर कुछ 'आयोनाइज्ड' नामक परमाणु होते हैं, जिससे सूर्य के वर्ण-मण्डल में कुछ मोटी-मोटी रेखाएँ दीखती हैं, जिन्हें रश्मि-चित्र के नाम से भी पुकारते हैं। आपने यह प्रयोग करके भी देख लिया कि कितने दबाव और तापक्रम पर किसी विशेष गैस में कितना गैस आयोनाइज्ड हो जायगा । आपके इस समीकरण से विश्व के अनेक ज्योतिषियों की अनेक शंकाएं दूर हो गई और अपनी इस पहली खोज के बल पर ही आप विश्व के प्रख्यात वैज्ञानिकों में गिने जाने लगे । आपके वैज्ञानिक कार्यों का आरम्भ वस्तुतः इसी सिद्धान्त से होता है ।

आपके इस सिद्धान्त की उपयोगिता और मौलिकता को स्वीकार करते हुए इस सम्बन्ध में विदेश जाकर और विशेष खोज करने के लिए आपको कलकत्ता-विश्वविद्यालय की ओर से १०,०००) की विशेष ट्रेवलिंग फैलोशिप प्रदान की गई । इससे आपका उत्साह और भी बढ़ गया और आप वहाँ जाकर पाश्चात्य देशों के अनेक प्रख्यात वैज्ञानिकों से मिले । इसी वर्ष आपको ग्रिफिथ-स्मारक पुरस्कार भी प्राप्त हुआ । आप सितम्बर १६२० से जनवरी १६२१ तक लन्दन के सुप्रसिद्ध इम्पीरियल कालिज ऑफ साइंस में महान् वैज्ञानिक प्रो० फाउलर की प्रयोगशाला में कार्य करते रहे । वहाँ पर नक्षत्र-विज्ञान-सम्बन्धी और भी कई उल्लेखनीय प्रयोग किये और आपने इन प्रयोगों के आधार पर 'नक्षत्रों के रश्मि-चित्रों का भौतिक सिद्धान्त' इस नाम से एक और नवीन सिद्धान्त स्थिर किया ।

विश्व के समस्त वैज्ञानिकों ने आपके इस सिद्धान्त का मुक्त कण्ठ से स्वागत किया। जर्मनी के सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक और नोबुल पुरस्कार-विजेता आचार्य नर्न्स्ट ने तो आपको अपनी प्रयोगशाला में आकर कुछ प्रयोग करने के लिए भी आमंत्रित किया। परिणामस्वरूप आचार्य नर्न्स्ट की प्रयोगशाला में जाकर आपने अनेक महत्त्वपूर्ण प्रयोग किये। जब आप आचार्य नर्न्स्ट की प्रयोगशाला में कार्य कर रहे थे तब आपको आचार्य समरफील्ड ने भौतिक वैज्ञानिकों के एक सम्मेलन में भाषण देने के लिए भी आमंत्रित किया। जर्मनी से इंगलैंड होते हुए आप फिर भारत आ गए और कलकत्ता-विश्वविद्यालय में भौतिक विज्ञान विभाग के अध्यक्ष हो गए। २ वर्ष तक वहाँ कार्य करने के उपरान्त सन् १९२३ में आप प्रयाग-विश्वविद्यालय में भौतिक-विज्ञान विभाग के अध्यक्ष नियत हुए।

प्रयाग विश्वविद्यालय में आकर आपको कार्य करने में और भी सुविधा हुई। वहाँ पर आपने भौतिक विज्ञान के सम्बन्ध में प्रयोग करने के लिए एक नवीन अन्वेषणालय का भी संगठन किया। बाद में सन् १९३२ में आप फिर कलकत्ता-विश्वविद्यालय के अन्तर्गत 'बसु रिसर्च इन्स्टीट्यूट' के डाइरेक्टर नियुक्त हो गए। ज्योतिर्भौतिक के अतिरिक्त आपने भौतिक विज्ञान-सम्बन्धी भी अनेक उल्लेखनीय प्रयोग किये हैं। आपकी खोजों का यह परिणाम है कि आज विश्व की विभिन्न प्रयोग-शालाओं में आपके द्वारा आविष्कृत सिद्धान्तों के आधार पर ही कार्य हो रहा है। आपके आविष्कारों में तापमान-सिद्धान्त, लोपजन, वर्णपट-विज्ञान, परमाणु की रचना; डाइरैक का ऋणाणु सिद्धान्त, विकीरण दबाव और धातु लवणों के रंग-सम्बन्धी सिद्धान्त विशेष उल्लेखनीय हैं।

डॉक्टर साहा के अनुपम कार्य-कलापों का ही यह परिणाम था कि वे थोड़े से दिनों में ही विश्व के ख्याति-प्राप्त वैज्ञानिकों की पंक्ति में स्थान पा गए। आपने केवल वैज्ञानिक तथ्यों का सैद्धान्तिक अध्ययन ही नहीं किया, प्रत्युत प्राचीन और अर्वाचीन विज्ञान का भी अध्ययन

करके देश के व्यापार तथा व्यवसाय को उन्नत करने के भी उल्लेखनीय प्रयत्न किये। आपने विज्ञान की सैद्धान्तिक शिक्षा पर बल न देकर प्रायोगिक ज्ञान की ओर देश के शिक्षा-शास्त्रियों का ध्यान आकर्षित किया। आपने जिन विज्ञान-सम्बन्धी संस्थाओं के स्थापन तथा निर्माण में विशेष भाग लिया था, उनमें प्रयाग की 'नेशनल एकेडेमी आफ साइन्सेज़', 'इण्डियन फिजीकल सोसायटी' तथा 'नेशनल इंस्टीट्यूट आफ साइन्सेज़ आफ इण्डिया' के नाम विशेष स्थान रखते हैं।

डाक्टर साहा केवल एक महान् वैज्ञानिक ही नहीं, प्रत्युत एक कर्मठ नेता भी थे। उन्होंने अनेक संस्थाओं के संचालन तथा संस्थापन में अपनी अद्भुत कर्मण्यता का परिचय दिया है। आजकल कलकत्ता-विश्वविद्यालय आपकी सेवा से उपकृत हो रहा है। वह दिन दूर नहीं जब भारत आपको नोबल-पुरस्कार-विजेता के रूप में भी देखकर गौरवान्वित होगा। देश को आपसे बहुत आशाएँ हैं।

७

# आचार्य बीरबल साहनी

आचार्य बीरबल साहनी एक सर्वतोमुखी प्रतिभा वाले विश्वविख्यात वैज्ञानिक थे। विज्ञानाचार्य जगदीशचन्द्र बसु के अतिरिक्त जिन भारतीय वैज्ञानिकों ने 'वनस्पति-विज्ञान-सम्बन्धी अनुसन्धान-कार्य' में अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त की है, उनमें आचार्य बीरबल साहनी का नाम अग्रगण्य है। आप एक महान् वैज्ञानिक होने के साथ-साथ सच्चे देश-भक्त भी थे।

आचार्य साहनी का जन्म १४ नवम्बर १८९१ को पंजाब के भेढ़ा नामक ग्राम में हुआ था। आपके पिता, प्रो० रुचिराम साहनी गवर्नमेंट कालिज लाहौर के रसायन-शास्त्र के आचार्य और प्रसिद्ध वैज्ञानिक थे। आपकी माता श्रीमती ईश्वरीदेवी अपने शील और सुन्दर स्वभाव के लिए प्रसिद्ध थीं। सुयोग्य माता-पिता के सुयोग्य पुत्र होने के नाते बीरबल साहनी का विश्व-विख्यात वैज्ञानिक होना स्वाभाविक ही है।

अपनी प्रारंभिक शिक्षा लाहौर के 'सेण्ट्रल स्कूल' और 'गवर्नमेंट

कालिज' में समाप्त करने के पश्चात् १९११ में कैंब्रिज के 'इमेन्युअल कालिज' में पढ़ने के लिए विलायत गये। वहाँ पहुँचने के कुछ समय पश्चात् ही प्रथम महायुद्ध प्रारम्भ हो जाने के कारण आप १९१९ तक वहीं रहे।

आरम्भ से ही श्री साहनी बड़े सत्यवादी, निर्भीक और न्याय-प्रिय थे। अपनी योग्यता और सत्यप्रियता से आपने विश्वविद्यालय के अधिकारियों को मुग्ध कर लिया। १९१४ में आपका वैज्ञानिक अनुसन्धान सम्बन्धी एक लेख वनस्पति-विज्ञान के प्रसिद्ध पत्र 'न्यू फाईटोलाजिस्ट' में प्रकाशित हुआ, जिसकी बड़ी प्रशंसा की गई। कैम्ब्रिज में आपने कोर्स की पुस्तकों के अतिरिक्त और भी जानने योग्य बातों का अध्ययन किया। आपने बहुत सी 'स्लाईडें' बनाईं और बहुत-से 'प्रस्तरावशेष' जमा किये, जिनकी सहायता से बाद में आप अपने शिष्यों को पढ़ाया करते थे। कैम्ब्रिज में आपने बड़ा सादा जीवन व्यतीत किया। अपने माता-पिता से बिना किसी धन की सहायता लिये अपनी ९० पौंड वार्षिक छात्रवृत्ति से ही आपने सब खर्च पूरे कर लिए।

कैम्ब्रिज में पढ़ने के साथ ही-साथ आपने लन्दन विश्वविद्यालय की 'एम० एस-सी०' और बाद में 'डी० एस-सी' की उपाधियाँ भी प्राप्त कीं। आपके अनुसन्धान-कार्य की महत्ता को समझकर लन्दन की 'रायल सोसायटी' और 'इमैन्युअल कालिज' ने आपको आर्थिक सहायता दी थी। इस प्रकार यूरोप और ब्रिटेन के प्रायः सभी बड़े-बड़े वनस्पति-विज्ञान-वेत्ताओं से आपका निकट सम्पर्क हो गया था।

लन्दन से 'डी० एस-सी०' की उपाधि लेकर श्री साहनी १९१९ में भारत लौटे और 'हिन्दू-विश्वविद्यालय' काशी, में वनस्पति-विज्ञान के आचार्य नियुक्त किये गए। परन्तु तत्कालीन साइन्स कालिज के प्रिंसिपल से कुछ अनबन हो जाने के कारण आपने १९२० में बनारस-विश्वविद्यालय से त्याग-पत्र दे दिया और लाहौर गवर्नमेंट कालिज में उसी पद पर नियुक्त किए गए। सन् १९२२ में 'लखनऊ-विश्वविद्यालय' के स्थापित होने पर

आए वहाँ 'वनस्पति-विज्ञान' के आचार्य नियुक्त हुए और अपने जीवन के अन्तिम दिन तक उसी पद की शोभा बढ़ाते रहे। इसके अतिरिक्त आप कई वर्षों तक लखनऊ-विश्वविद्यालय के विज्ञान विभाग के प्रधान भी रहे। १९४३ में जब आपके प्रयत्नों से लखनऊ में 'भूगर्भ-विभाग' खुला तो आप उसके भी आचार्य नियुक्त किये गए। इन समस्त कार्यों के साथ-साथ आपका अपना अनुसन्धान-कार्य भी जारी रहा।

आचार्य साहनी का 'वनस्पति-विज्ञान-सम्बन्धी अनुसन्धान-कार्य कैम्ब्रिज में प्रारम्भ हुआ। आरम्भ में 'जीवित वनस्पतियों' पर कुछ कार्य करने के पश्चात् आपने 'भारतीय वनस्पति अवशेषों' की दुबारा जाँच आरम्भ कर दी। आपसे पूर्व इनका वर्णन 'फाइस्ट माण्टल' आदि विदेशी वैज्ञानिकों ने किया था, किन्तु उसमें आपने अनेक त्रुटियाँ पाई और इन्हीं अवशेषों के संग्रह में अनेक नवीन अवशेषों की भी खोज निकाला। इसी प्रकार आपने और भी कई भारतीय वनस्पति-अवशेषों का अन्वेषण किया, जो भारत में ही नहीं, प्रत्युत विज्ञान के लिए सर्वथा नवीन है। आपके इन अन्वेषणों का विस्तृत वर्णन 'रायल सोसायटी के 'फिलासोफिकल ट्रान्जेक्शन्स' और अन्य प्रख्यात वैज्ञानिक पत्रिकाओं में प्रकाशित हुआ है। अपने लेखों में आपने पुरातन वनस्पति-अवशेषों का ही वर्णन नहीं किया, वरन् इनके आधार पर उनके कुल सम्बन्ध, वनस्पति जगत् के विकास तथा तत्कालीन भूगोल और जलवायु के विषय में अत्यन्त सुन्दर और विश्वसनीय मौलिक गवेषणाएँ की हैं। आपके अनुसन्धान-कार्य के आधार पर 'महाद्वीप-विभाजन-सिद्धान्त, दक्षिण पठार की आयु, ग्लोसो-प्टेरिस वनस्पतियों की उत्पत्ति और स्वभाव तथा मनुष्य जाति की उत्पत्ति के पश्चात् हिमालय के उत्थान' आदि अनेक जटिल तथा वाद-विवाद-युक्त भूगर्भ और वनस्पति-विज्ञान-विषयक समस्याओं को हल करने में सहायता मिली है।

आचार्य साहनी का अनुसन्धान-कार्य वनस्पति और भू-गर्भ विज्ञान तक ही सीमित नहीं है। आपने पुरातत्त्व-सम्बन्धी भी अनेक अन्वेषण

किये हैं। एक बार रोहतक के पास यमुना की उपत्यका का भ्रमण करते समय आपको खोकरा कोट नामक स्थान पर कुछ टूटे हुए मिट्टी के ठप्पे मिले, जिनमें सिक्कों के चिह्न अंकित थे। बाद में वहाँ खुदाई करवाने पर आपको उसी प्रकार के हजारों ठप्पे और मिले, जिनसे ऐसा प्रतीत होता है कि वहाँ पर ईसा से १०० वर्ष पूर्व यौधेय राजाओं की टकसाल रही होगी। परिणामस्वरूप इन ठप्पों की सहायता से आपने तत्कालीन सिक्के ढालने की विधि का विस्तारपूर्ण वर्णन लिख डाला। इस कार्य के लिए आपको भारतीय न्यू मिसमेटिक सोसायटी ने एक पदक प्रदान किया। अनुसन्धान-कार्य के अतिरिक्त और भी कई प्रकार से आपने विज्ञान की सेवा की है। पुरा वनस्पति-विज्ञान मन्दिर, के अतिरिक्त आपने भारतीय वनस्पति विज्ञान-परिषद्, अखिल भारतीय-विज्ञान कांग्रेस भारतीय वैज्ञानिक एकेडेमी, राष्ट्रीय वैज्ञानिक एकेडेमी, राष्ट्रीय विज्ञान मन्दिर और 'करेण्ट साइंस' की स्थापना तथा संचालन में विशेष भाग लिया है।

विज्ञान की इन बहिर्मुखी सेवाओं के उपहारस्वरूप अनेक विदेशी तथा स्वदेशी वैज्ञानिक संस्थाओं ने आपको सब प्रकार से सम्मानित किया। सन् १९२९ में 'कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय' ने आपको 'एस० सी० डी०' की उपाधि प्रदान की। इस उपाधि के पाने वाले आप प्रथम भारतीय हैं। १९३६ में आप लन्दन की 'रायल सोसायटी' के फैलो मनोनीत हुए। 'अखिल भारतीय विज्ञान कांग्रेस' के आप १९२१ तथा १९३८ में वनस्पति-विभाग के अध्यक्ष रह चुके हैं। १९२६ में भूगर्भ-विभाग के अध्यक्ष और १९४० में प्रधानाध्यापक रह चुके हैं। आप अनेक अन्तर्राष्ट्रीय वैज्ञानिक सभाओं में भारत के प्रतिनिधि के रूप में सम्मिलित हुए। आप दो अन्तर्राष्ट्रीय-वनस्पति-विज्ञान-कांग्रेसों के उपसभापति रह चुके थे। अपनी मृत्यु से कुछ समय पहले आप स्वीडन में होने वाली एक अन्तर्राष्ट्रीय वनस्पति-विज्ञान-कांग्रेस के सभापति भी निर्वाचित हुए थे।

एक प्रसिद्ध वैज्ञानिक होने के साथ-साथ आप सच्चे देशभक्त भी थे। स्वदेशी और खद्दर के तो आप बहुत पहले से ही प्रेमी थे। स्वच्छ सफेद खद्दर की अचकन, चूड़ीदार पायजामा, गांधी टोपी और लाल पंजाबी जूता पहने हुए आप अपने सुन्दर रूप और स्वभाव से सबको मुग्ध और प्रभावित कर लेते थे। १९२२ में जब वेल्स के युवराज लखनऊ विश्वविद्यालय में पधारे थे, तो आपने उनका बहिष्कार किया था। कांग्रेस के पहले आन्दोलन के समय आपने उसमें भाग लेने का निश्चय किया, परन्तु बाद में विज्ञान द्वारा ही देश-सेवा करना अपने लिए श्रेष्ठ समझा। देश के स्वतन्त्रता-आन्दोलन के साथ सदैव आपकी सहानुभूति बनी रही। स्वदेशी के साथ आप राष्ट्रभाषा हिन्दी और उसमें विज्ञान की शिक्षा के भी बहुत प्रेमी थे।

सर्वतोमुखी प्रतिभा वाले इस विश्व-विख्यात देश-भक्त वैज्ञानिक पर आज समस्त राष्ट्र को गर्व है। ऐसे ही देशभक्त वैज्ञानिकों द्वारा देश की उन्नति का मार्ग प्रशस्त होगा, ऐसी हमारी धारणा है।